२

मानवके आध्यात्मिक पुनरुत्थानके लिए समर्पित

ज्योति शिखा

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई

"ज्योति शिखा"

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

- द्वितीय संकलन • सितम्बर १९६६
- मानार्ह संपादक :

श्री जटुभाई महेता

संपादक मंडल :
श्री दुर्लभजीभाई खेताणी
श्री. गुलाबचंद त. शेठ
श्री रिषभदासजी रांका
श्री पूर्णिमाबहन पकवासा

- मुद्रक–प्रकाशक:
श्री रमणलाल सी. शाह
जीवन जागृति केन्द्र
५०५, कालबादेवी, बंबई–२
- मूल्य : वार्षिक रु. ५.
एक प्रतिः रु. १–२५
- मुद्रणस्थान:
स्टेटस पीपल प्रेस ,
घोगा स्ट्रीट, बम्बई १

ज्योति शिखा

द्वितीय संकलन : सितंबर १९६६

अनुक्रम

क्रमांक	स्तंभ तथा विषय	संकलक	पृष्ठ
१	बिन्दु बिन्दु विचार (विचार संकलन)	सुश्री क्रान्तिदेवी	३
२	जीवन में अंतिम होना (प्रवचनों से संकलित बोध कथाएं	प्रो. अरविन्द एम. कॉम.	१७
३	प्रभात के स्वर (प्रभातकालीन चर्चाओं से)	सौ. रमा बी. एस सी.	३७
४	प्रेम के फूल (पत्रों से)	सौ. सोहन बाफना	६०
५	संध्या के तारे (सांध्यकालीन चर्चाओं से)	श्री. नरेन्द्र एम. ए.	७२
६	अमृत मंथन (१) (प्रवचन सार)	सौ. उर्मिला एम. ए.	९०
७	समाचार विभाग	संपादक	१०५

आचार्य श्री रजनीशजी का सितम्बर अक्टुबर का कार्यक्रम

१५–१६ सितम्बर पूना में हिन्द विजय थियेटर डेक्कन जीमखाना में सुबह ९ से १० पूना जैन मित्र मण्डल द्वारा आयोजित

१७–१८–१९ बम्बई में :

ता. १७ सितम्बर सुबह ९ बजे सुन्दर बाई हाल क्वीन्सरोड स्थित में भारत जैन महामण्डल बम्बई शाखा के तत्वावधान में ।

ता. १७ सितम्बर रात्रि को विलेपारले पूर्व में श्रद्धानंद रोड, गुजराती मंडल के हाल में जैन युवक मण्डल के द्वारा आयोजित । ता. १८ सितम्बर को सुबह ९। बजे बिरला क्रीड़ा केन्द्र चौपाटी स्थित में मुंबई जैन युवक संघ द्वारा आयोजित

ता. १९ सितम्बर को सुबह ८।। बजे माधवबाग, सी. पी. टैंक, सर्वोदय केन्द्र, बम्बई द्वारा आयोजित ।

ता. १, २, ३ अक्टुबर भिलाई में ।

ता. २३, २४, २५ अक्टुबर माथेरान में साधना शिबिर ।

बिंदु बिंदु विचार

(विचार संकलन)

संकलन : सुश्री क्रांतिदेवी

१. मैं किस धर्म का हूं ? किसी भी धर्म का नहीं। वस्तुतः धर्म तो है, लेकिन धर्मो का कोई अस्तित्व ही नहीं है। धर्मों के मिथ्या अस्तित्व ने, धर्म की अभिव्यक्ति को अवरूद्ध कर रखा है। धर्म के आविर्भाव के लिए धर्मो की मृत्यु आवश्यक है इसीलिए मैं किसी भी धर्म का नहीं हूं। जिसे धर्म का होना है, उसे धर्मों का होने की सुविधा ही नहीं है। धर्मो का आविष्कार निश्चय ही अधर्म का सहयोगी है। इस भांति धर्म के नाम पर अधर्म जीता है, और फलता – फूलता है। धर्म से अधर्म को चिन्ता हो सकती है। धर्मो से प्रसन्नता है। मैं किसी धर्म में नहीं हूं क्योंकि मैं अधर्म के पक्ष में नहीं हूं। मैंने सुना है एक प्रभात की बात है। शैतान अपने शिष्यों सहित किसी व्यक्ति का पीछा कर रहा था। वह व्यक्ति सत्य की खोज में था और इसीलिए शैतान को चिन्ता होनी स्वाभाविक ही थी। फिर शैतान के शिष्यों ने आकर शैतान को खबर दी कि उस व्यक्ति को सत्य उपलब्ध हो गया है। वे शिष्य बहुत ही घबराये हुए थे। लेकिन शैतान ने उनसे कहा : "अभी चिन्ता न करो। नगर-नगर में जाकर इस बात की खबर कर दो और लोगों को उसके पास इकट्ठा होने दो। कोशिश करो कि जल्दी ही वे शास्त्र बना लें और संगठित हो जावें। फिर चिन्ता का कोई कारण नहीं है।"

२. मैं और मेरे को सत्य से क्या संबंध ? धर्म से क्या संबंध ? सत्य, मेरा

सत्य कैसे हो सकता है ? धर्म, मेरा धर्म कैसे हो सकता है ? सत्य, मेरा सत्य नहीं हो सकता है और मेरा सत्य, सत्य नहीं हो सकता है।

३. विचार ज्ञात का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। वह कितनी ही ऊंची उड़ान भरे लेकिन ज्ञात की सीमा को पार करना उसके लिए असंभव है। वह ज्ञात की उत्पत्ति है और ज्ञात की सीमा ही उसका जीवन भी है। वह है अतीत अनुभवो का सारभूत अंश और स्मृति है उसका आवास। फिर स्मृति मृत है। विचार भी अतीत और मृत है। लेकिन सत्य है अज्ञात। और सत्य है जीवन। विचार इसीलिए ही सत्य तक जाने में असमर्थ है। अज्ञात में और जीवन्त में उसका प्रवेश निषिद्ध है। मछलियां तो सागर के बाहर थोड़ी देर जी भी लेती हैं लेकिन विचार मृत स्मृति और ज्ञात के घेरे के बाहर एक भी कदम नहीं रख सकता है।

४. अस्तित्व के अनुभव के लिए अनस्तित्व का साक्षात आवश्यक है। उससे घिरकर ही अस्तित्व जाना, पहचाना और जिया जा सकता है। चारों और अनस्तित्व का सागर हो तो ही स्वयं के बिंदु पर अस्तित्व की प्रगाढ़ अनुभूति हो सकती है। इसीलिए जो सत्य को जानने के लिए प्यासे हैं उन्हें शून्य में जाना पड़ेगा, और जो जीवन को उसकी पूर्णता में जीने के अभीप्सु हैं उन्हें मृत्यु को वरण करना होगा। मैं एक संध्या का स्मरण करता हूं। एक छोटे से गांव में था। संध्या हुई तो मिट्टी का दिया जलाया गया था। पर अभी अंधेरा नहीं हुआ था, इसीलिए दिये में कोई प्रकाश नहीं मालुम पड़ता था। यदि दिये में कोई चेतना होती तो वह पाता कि उसमें तो कोई प्रकाश ही नहीं है। भरी दोपहर के सूरज के समक्ष तो उसे स्वयं के ज्योतिर्मय होने की स्मृति भी नहीं आ सकती थी। किन्तु फिर जैसे जैसे अंधेरा बढ़ने लगा, वैसे वैसे उस दिये में प्रकाश आने लगा। उसकी ज्योति क्रमशः घनी होती जा रही थी। रात्रि का अंधकार बढ़ रह था तो उसकी ज्योति भी सजग हो रही थी। अमावश की रात्रि थी वह। धीरे धीरे अंधकार घना से घना हो गया और मैं उस दिये की लौ में आते प्राणों को देखता रहा। अब यदि वह दिया स्वयं को जान सकता तो पाता कि वह तो सूरज ही है। फिर एक बात और विचार में आई थी। दिया तो वही था। ज्योति भी वही थी। अंतर तो दिये में किंचित भी न हुआ था। अंतर हुआ था अंधकार में। लेकिन घने होते अंधकार की पृष्ठभूमि में दिये की ज्योति खूब स्पष्ट होकर प्रगट हो गई थी। अंधकार ने दिये को पूर्णरूप से अभिव्यक्त होने में सहायता दी थी। ऐसा ही स्वयं की सत्ता के

संबंध में भी सत्य है। अस्तित्व से घिरे रहने पर उसका बोध नहीं होता चित्त जब सब भांति शून्य होता है, तभी आत्मा की पूर्ण ज्योति प्रगट होती है। अनस्तित्व के द्वार से ही अस्तित्व को जाना जाता है।

५. धन की, यश की, त्याग की, ज्ञान की दौड़ मनुष्य को कहां ले जाती है? दौड़नेवाला महत्वाकांक्षी चित्त मनुष्य को कहां ले जाता है? इस संबंध में सोचता हूं तो एक स्वप्न की याद आ जाती है। उस स्वप्न को मैं कभी नहीं भूल पाता हूं। जब स्वप्न देखता था तो उसे एक बार नहीं, बहुत बार देखा भी है। स्वप्न में एक सीढ़ी दिखाई पड़ती थी। उसका ऊपर का छोर दूर बादलों में खोया रहता था। ऐसा लगता था कि जैसे वह सीढ़ी आकाश में ही ले जाने वाली हो। फिर आकाश में पहुंचने की अदम्य आकांक्षा से उस सीढ़ी पर चढ़ना शुरू करता था। उसके एक-एक डंडे को पार करना भी बड़ा कठिन होता था। सांस फूल जाती थी और माथे से पसीना गिरने लगता था। फिर भी आकाश में पहुंचने की आकांक्षा के बल चढ़ता जाता था। धीरे धीरे सांसें घुटने लगती थीं और हृदय जबाब देने लगता था। लेकिन तभी ज्ञात होता था कि मैं अकेला ही नहीं चढ़ रहा हूं और मेरी सीढ़ी ही अकेली सीढ़ी नहीं है। मेरी ही जैसी अनन्त सीढ़ियां हैं और अनंत अनंत लोग उनपर चढ़े जा रहे हैं। उन्हें चढ़ते देखकर प्रतिस्पर्द्धा भी जाग उठती थी और मैं और भी गति से चढ़ने लगता था। प्राणों की पूरी शक्ति लगाकर चढ़ने की दौड़ होती थी और फिर स्वप्न का अंत सदा ही एक ही जैसा होता था। अंततः एक ऐसा सोपान आता था कि उसके आगे कोई सोपान ही नहीं था! और पीछे देखने पर ज्ञात होता था कि वहां तो कोई सीढ़ी ही नहीं है! उस ऊंचाई से गिरना शुरू होता जो कि चढ़ने के कष्ट से भी बदतर था। लगता कि मृत्यु ही हो गई है और वह मृत्यु थी ही। उस मृत्यु के आघात से ही नींद टूट जाती थी। उस स्वप्न ने एक बड़े सत्य के दर्शन मुझे कराये। फिर तो हमारा तथाकथित जीवन ही पूरा का पूरा उस स्वप्न का विस्तार मालुम होने लगा। क्या स्वप्न में मनुष्य की सभी दौड़ों का दर्शन नहीं है! क्या मनुष्य की सारी दौड़ों के अंत में मृत्यु नहीं आ जाती है? और मृत्यु का क्या अर्थ है? क्या यही अर्थ नहीं है कि सीढ़ी पर अब आगे कोई सोपान नहीं हैं! मृत्यु दौड़ का अंत है। मृत्यु भविष्य की समाप्ति है। मृत्यु और संभावनाओं का असंभव हो जाना है। दौड़ने वाला चित्त जिस ऊंचाई पर ले जाता है, मृत्यु उस ऊंचाई से गिरने के अतिरिक्त और क्या है? जहां दौड़ है, वहां मृत्यु है। फिर वह

दौड़ चाहे धन की हो, चाहे धर्म की, चाहे भोग की हो, चाहे त्याग की। और जहां दौड़ है, वहां स्वप्न है। सत्य है वहां, जहां दौड़ नहीं है——— दौड़ने वाला मन नहीं है। जीवन भी वहीं है, ऐसा जीवन जिसकी कि कोई मृत्यु नहीं है।

६. शब्द, शास्त्र, संप्रदाय और सिद्धान्त मनुष्य की आत्मा को तट से बांध रखना चाहते हैं। तट है दासता। उस दासता की सुरक्षा में जो बंध जाता है, वह अनन्त सागर की स्वतंत्रता से वंचित हो जाता है। सागर की यात्रा के लिए तटों से तो मुक्त होना ही होगा। स्वतंत्रता के लिए बंधन तो तोड़ने ही पड़ते हैं। मछलियों को पकड़ने के लिए कांटे में आटा लगा देते हैं। मछली आटा खाने के मोह में कांटे से बिंध जाती है। ऐसे ही मानसिक दासताओं के कांटे सुरक्षा के आटे में लिपटे रहते हैं। सुरक्षा के नाम पर स्वतंत्रता सदा ही छीनी जाती रही है। यह षड़यंत्र बहुत पुराना है। इस षड़यंत्र के प्रति जो नहीं जागता है, वह उस जीवन को और उस आनन्द को कभी नहीं पा सकेगा जो कि चेतना की स्वतंत्रता में अंतर्निहित है। स्वतंत्रता से बड़ा न कोई मूल्य है और न कोई अनुभूति ही। स्वतंत्रता से बड़ी कोई उपलब्धि भी नहीं है, क्योंकि स्वतंत्रता से ही सत्य का साक्षात्कार संभव है। मनुष्यात्मा की स्वतंत्रता के विरोध में जो भी है, वही उसका शत्रु है। सुरक्षा का मोह प्रमुख शत्रु है। सुरक्षा की अतिचाह ही आत्मा के लिए कारागृह बन जाती है। इसी सुरक्षा की चाह के कारण अंधविश्वास और अंधी परंपरायें चित्त को जकड़े रहती हैं। उन्हें छोड़ने में भय मालुम होता है क्योंकि उन्हें छोड़ते ही परिचित भूमि छूटती है और अपरिचित प्रदेशों में प्रवेश करना पड़ता है। यही कारण है कि सभी तरह के शोषक, फिर चाहे वे राजनैतिक अधिनायक हों, चाहे धार्मिक पुरोहित, मनुष्य के हृदय को भय से मुक्त कभी भी नहीं देखना चाहते। भय ही तो उनके शोषण का मूलाधार है। भय के कारण व्यक्ति जो परिचित है और बहुप्रचारित है उससे बंधा रहता है, चाहे वह असत्य ही क्यों न हो। और सुरक्षा की दृष्टि से वह भीड़ और समूह की मान्यताओं से इंच भर भी हिलने डुलने का साहस नहीं करता है, चाहे वे मान्यतायें कितनी ही अंधी और अज्ञानपूर्ण क्यों न हों। अंततः भय विचार करने की क्षमता को ही कुंठित कर देता है, क्योंकि विचार विद्रोह में ले जा सकता है। विचार के समक्ष व्यक्ति की स्वतंत्रता को बचाने के अतिरिक्त और कोई महत्वपूर्ण कार्य भी नहीं है, जबकि उसके चारों ओर शोषण के जाल बिछे हैं और उसके व्यक्तित्व को नष्ट करने की एक सुनियोजित साजिश चल रही है। आर्थिक और राजनैतिक दासतायें तो उस दासता के सामने कुछ

भी नहीं हैं, जो कि व्यक्ति की अंतरात्मा को ही सत्य के नामपर शब्दों और शास्त्रों में बांध लेती है। यह दासता इतनी सूक्ष्म है कि दिखाई भी नहीं पड़ती, और इतनी गहरी है कि व्यक्ति उसे अपने रक्त या हड्डियों की भांति ही अपना मान लेता है। मैं इस दासता के विरोध में खड़ा हूँ क्योंकि इसके कारण ही अरबों आत्मायें सत्य के सूर्य से वंचित रही हैं। उनके हृदय उस मुक्ति को नहीं जान पाये जिसके अभाव में कि मनुष्य स्वयं के होने से आनन्द और संगीत को ही अनुभव नहीं कर पाता है। परतंत्र चित्त और परमात्मा में कभी भी मिलन नहीं होता क्योंकि परमात्मा प्रकाश है और परतंत्र चित्तता से घना कोई अंधकार नहीं है।

७. मैं एक बार एक ऐसे मकान में ठहरा था जिसमें कि कोई खिड़कियां ही नहीं थीं। बहुत पुराना मकान था। गृहपति से मैंने कहा : "आपका मकान तो मनुष्य के मन जैसा है। न इसमें कोई खिड़कियां हैं, न उसमें प्रकाश के आने के लिए, खुले आकाश के प्रवेश के लिए, ताजी हवाओं के लिए आपने कोई सुविधा ही नहीं रखी है।" वह बोले : "मकान बहुत पुराना है।" मैंने कहा : "ऐसा ही मनुष्य का मन भी बहुत पुराना है। असल में पुराना होने से ही जीवन के प्रति खुलापन बंद हो जाता है। बंद होते जाना मृत्यु है। वह सदा के लिए कब्र में होने की तैयारी है। फिर भी आप चाहें तो क्या दीवारें तोड़कर आकाश से संबंधित होने का कोई मार्ग नहीं निकाल सकते ? क्या यह उचित नहीं कि जो दीवारों में है, वह उससे संबंधित है, जो कि दीवारों के बाहर है ? क्या दीवारें इतनी बहुमूल्य हैं कि उन्हें तोड़कर आकाश को पाना महंगा होगा ? वस्तुतः तो दीवारों से घिरा व्यक्ति स्वयं के जीवन के वास्तविक क्षितिज को ही नहीं जान पाता। पुरानी दीवारों के कारण आकाश से टूटना कितना घातक है ? पुराने मन के कारण आत्मा से टूटना कितना आत्मघातक है ?"

८. वह व्यक्ति जीवित ही नहीं है जो कि स्वयं की सत्ता को संकट में अनुभव नहीं करता। वह तो किसी भांति जिये जाता है या कि किसी भांति मरे जाता है। वह स्वयं के होने के प्रति अभी विमर्श से ही नहीं भरा है। जीवन के प्रति विमर्श सबसे पहले तो मनुष्य को मृत्यु के तथ्य के प्रति जगाता है। मृत्यु की संभावना संकट बन जाती है। और संकट स्वयं की खोज का शुभारंभ है। संकट सत्य की दिशा में अनुसंधान का जन्म है। संकट मृत्यु से अमृत की ओर जाने के लिए संक्रांति का क्षण है। इसीलिए पूछता हूं कि क्या जीवन का संकट आ गया है ? यदि नहीं तो अभी सत्य की खोज कैसे प्रारंभ हो सकती है ? मनुष्य चेतना को संकट पर आना ही होता है। संकट का अर्थ है : स्वयं के न हो

जाने की संभावना का साक्षात्कार। उससे ही परमसत्ता की अभीप्सा पैदा होती है और उसकी उपलब्धि का अभियान शुरू होता है। मृत्यु की आंखों में झांके बिना जीवन की खोज में न कोई कभि गया है, और न ही जा सकता है। जीवन खोज है, लेकिन जब तक मृत्यु पर दृष्टि नहीं पड़ती तब तक यह खोज स्वयं जीवन की ही खोज नहीं बनती। उस समय तक तो मनुष्य क्षुद्र को ही खोजता रहता है और क्षुद्र की खोज में व्यर्थ ही मरता रहता है। वह क्षुद्र में उलझा रहता है और मृत्यु उसे खोजती रहती है। किंतु जैसे ही मृत्यु पर उसकी दृष्टि जाती है, वैसे ही एक अभूतपूर्व संकट उपस्थित हो जाता है। यह संकट उसकी क्षुद्र की दौड़ को तो देता है। यह आघात उसकी स्वप्न तन्द्रा में बाधा बन जाता है। अब और सोये रहना असंभव होता है। यही घड़ी — संकट की यही घड़ी जीवन के प्रति जगाती है। और चेतना मृत्यु के अतिक्रमण में संलग्न होती है। इसीलिए मैं कहता हूं : जाओ और मृत्यु को खोजो। इसके पहले कि वह तुम्हें खोजे, अच्छा है कि तुम ही खोज लो। इससे अधिक आत्यंतिक अर्थ की और कोई बात नहीं है।

९. एक संन्यासी आए थे। वे कहते थे : 'मैं अमृत का विचार करता हूं।' मैंने उनसे कहा : "अमृत का विचार संभव ही नहीं क्योंकि जो विचार में आ सकता है, वह अमृत नहीं हो सकता। विचार है मर्त्य, सो उसका अमृत से सम्पर्क ही कैसे होगा ? अच्छा हो कि आप मृत्यु का विचार करें। मृत्यु को पहचानें और खोजें। मृत्यु का पूर्ण साक्षात्कार ही आत्मा को अमृत में ले जाता है। लेकिन हम तो मृत्यु से भय खाते हैं, इसीलिए अमृत का विचार करते हैं। अमृत का विचार क्या मृत्यु के भय से ही उत्पन्न नहीं होता है ? और जो चित्त मृत्यु से भयभीत है, क्या वह अमृत की उपलब्धि में समर्थ हो सकता है ? मित्र, वस्तुतः तो मृत्यु में भय नहीं है, वरन् भय में ही मृत्यु है। मृत्यु तो है अपरिचित, सो उससे भय कैसा ? भय के लिए तो परिचित चाहिए। अज्ञात का भय नहीं होता है। भय होता है ज्ञात के छूटने का। मृत्यु का भय मृत्यु का नहीं, वरन् जिसे हम जीवन जानते और मानते हैं, उसके टूटने का भय है। और यही भय घनीभूत होकर मृत्यु बन जाता है। इसीलिए मैंने कहा कि मृत्यु को खोजें। वह खोज बहुत फलदायी है क्योंकि उस खोज के अंत में मृत्यु नहीं पाई जाती और जो पाया जाता है, वही अमृत है।"

१०. मैं अंधविश्वास का विरोधी हूँ। और वस्तुतः तो विश्वास मात्र ही अंधे होते हैं। विश्वासों के कारण ही विवेक सतेज नहीं हो पाता। उनके कारण उसके जागरण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जैसे किसी व्यक्ति को

बचपन से ही पैरों की जगह वैशाखियों के सहारे चलाया जाय, तो उसके पैर पंगु हो जावेंगे ऐसे ही विश्वास के सहारे चलने से बुद्धि पंगु हो जाती है। और बुद्धि के पंगु होने से बड़ी मनुष्य के जीवन में और कौनसी दुर्घटना हो सकती है ? किन्तु, विश्वास यही करते हैं। असल में समाज या राज्य चाहता ही नहीं कि व्यक्ति में विचार की शक्ति हो। विचार की शक्ति से सभी चुस्त स्वार्थी सत्ताधिकारियों और शोषकों को खतरा है। विचार जहां है, वहां विद्रोह की संभावना है। और विचार जहां है, वहां सत्य की खोज के जन्म होने का डर है। जबकि तथाकथित समाज, धर्म और राज्य बहुत से असत्यों को अपने भवन की नींव बनाए हुए हैं। इसीलिए ही व्यक्ति के पैदा होते ही उसे विश्वास की परतंत्रता में बांधने के सामूहिक प्रयास शुरू हो जाते है। आजतक की सारी शिक्षा भी यही करती रही है। शिक्षा है तो मनुष्य को मुक्त करने के लिए। ऐसा कहा भी जाता है। किन्तु वह जो वस्तुतः करती है, वह है व्यक्ति के चित्त में सूक्ष्म मानसिक बंधनों और दासता का निर्माण। वह विचार नहीं, विश्वास सिखाती है। वह भी संदेह और विद्रोह नहीं सिखाती और इसीलिए तथाकथित रूप से शिक्षित व्यक्ति स्वतंत्रता से चिंतन करने में करीब असमर्थ ही हो जाता है। सत्य की जीवन्त खोज विश्वास से नहीं, संदेह से होती है। सत्य की खोज में स्वस्थ संदेह से बडी और कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा खोज का आरंभ नहीं, अंत है। आरंभ तो संदेह ही है। सम्यक् अनुसंधान संदेह से प्रारंभ और श्रद्धा पर परिपूर्ण होता है। असम्यक् अनुसंधान श्रद्धा से यात्रा शुरू करता और संदेह में ही जीता और संदेह में ही समाप्त होता है। क्योंकि ऐसी श्रद्धा वास्तविक ही नहीं हो सकती। विश्वास से आई हुई श्रद्धा सत्य कैसे होगी ? सत्य श्रद्धा का जन्म तो ज्ञान से होता है। ज्ञान ही श्रद्धा है। अज्ञान है विश्वास, ज्ञान है श्रद्धा। लाई हुई श्रद्धा विश्वास है। थोपी हुई श्रद्धा विश्वास है। साधी हुई श्रद्धा विश्वास है। जागी हुई श्रद्धा ज्ञान के आलोक में सहज और स्वतः आई हुई श्रद्धा ही वास्तविक श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा न तो लानी ही पड़ती है और न सीखनी ही। वह तो आती है। सीखना पड़ता है संदेह —— सम्यक् संदेह (Right Doubt)। सम्यक् संदेह सत्य श्रद्धा को पाने की विधि है। सन्देह अविश्वास नहीं है। क्योंकि अविश्वास तो विश्वास का ही नकारात्मक पहलू है। सन्देह अविश्वास हो तो असम्यक् और अस्वस्थ हो जाता है। सन्देह न तो विश्वास है, न अविश्वास। वह है मुक्त जिज्ञासा। वह है खोज की अदम्य वृत्ति। वह है ज्ञान की अभीप्सा। वह है सतत अनुसंधान। वह है, सत्य के पूर्व, स्वानुभूत सत्यके पूर्व, कहीं भी न ठहरने

का दृढ़ संकल्प। मेरे देखे विश्वास भी बाधक हैं और अविश्वास भी। साधक है सन्देह। सन्देह ही अंततः सत्य तक पहुंचा सकता है। एक सत्य का खोजी था। वह वर्षों की खोज के बाद एक ऋषि के पास पहुंचा। ऋषि की गुफा शास्त्रों ही शास्त्रों से भरी थी। अनंत शास्त्र थे। गुफा में जहांतक दृष्टि जाती थी वहां तक शास्त्र ही शास्त्र थे। ऋषि ने उससे कहा: "इन शास्त्रों में विश्व का सारा ज्ञान है। सत्य को खोजते जो यहां तक आ जाते हैं, उनके लिए ही ये रहस्यपूर्ण गुप्त शास्त्र संग्रहीत– किये गये हैं। प्रत्येक खोजने वाला कोई भी एक शास्त्र ले सकता है। तुम कौनसा शास्त्र चाहते हो?" उस युवा खोजी ने शास्त्रों की अंतहीन श्रंखला को देखा, फिर बहुत सोचा और कहा: "वह शास्त्र मुझे दें जिसमें वह सब उपलब्ध हो जो कि शेष सारे शास्त्रों में है"। वृद्ध ऋषि इस पर हंसा और बोला: "ऐसा शास्त्र भी निश्चित ही है लेकिन उसे खोजने मुश्किल से ही कभी कोई यहां आता है।" और उसने सत्य के उस खोजी को एक शास्त्र दिया जिसपर लिखा था: "परम सन्देह का शास्त्र।" मैं भी सभी को यही शास्त्र देना चाहता हूं, क्योंकि यह शास्त्र शेष सब शास्त्रों से मुक्त कर व्यक्ति को सत्य तक पहुंचा देता है।

११. मैं नदी तट पर खड़ा था। छोटी सी नदी थी। संध्या हो रही थी। गांव की युवतियां गागरों में पानी भर अपने घरों को लौट रही थीं। मैंने देखा: नदी से पानी भरना हो तो थोड़ा नीचे झुकना पड़ता है। जीवन से पानी भरने के लिए भी झुकने की कला आनी चाहिए। लेकिन झुकना तो जैसे मनुष्य भूलता ही जाता है। उसका अहंकार उसे झुकने ही नहीं देता। इससे ही प्रेम और प्रार्थना सभी विलीन होते जा रहे हैं। वस्तुतः जो भी महत्वपूर्ण है, वह सभी विलीन होता जाता है। और जीवन संगीत और सौन्दर्य की जगह निपट संघर्ष ही बन गया है। जहां झुकने का रहस्य ज्ञात न हो, वहां संघर्ष ही शेष रह जाता है। और जहां झुकने की हार्दिक संवेदनशीलता अपरिचित हो, वहां कठोर और अनन्त अहंकार असहनीय पीड़ा का स्रोत हो जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। झुकना व्यक्ति को समस्त से जोड़ता है। न-झुकने का आग्रह उसे सर्वसत्ता से तोड़ देता है। निश्चय ही यह झुकना सहज और स्वयंस्फूर्त होना चाहिए। अन्यथा वह भी अहंकार की ही एक अभिव्यक्ति बन जाता है। विचार मात्र से जो झुकना आता है, वह न यथार्थ होता है और न समग्र क्योंकि उसके पीछे किसी न किसी तल पर प्रतिरोध बना ही रहता है और मात्र बौद्धिक सतह से जन्मने के कारण वह अयथार्थ भी होता है क्योंकि प्राणों की समग्रता उसकी गवाही में

नहीं होती है। फिर ऐसा झुकना पश्चाताप भी लाता है क्योंकि उससे अहंकार को चोट लगती है। वह अहंकार के विरोध में किया गया कृत्य है, इसीलिए अहंकार पश्चाताप के रूप में उसका बदला भी लेता है। मनुष्य हृदय जब अहंकार शून्य होता है, तभी वह सहजता से और समग्रता से झुकता है। यह झुकना वैसे ही सहज और समग्र होता है जैसे कि आंधियों में घास के छोटे पौधे झुक जाते हैं। वे जैसे आंधियों के साथ एक ही हो जाते हैं। उनका आंधियों से कोई विरोध ही नहीं है और उन्हें स्वयं की अहंता का भी कोई बोध नहीं है। मनुष्य जिस दिन इस भांति के झुकने को जान लेता है, उसी दिन परमात्मा के सारे रहस्य उसके समक्ष स्पष्ट हो जाते हैं। एक फकीर से किसी युवक ने पूछा था : "पुराने दिनों में ऐसे लोग थे जिन्होंने परमात्मा को स्वयं अपनी आंखों से देखा था। अब ऐसे लोग क्यों नहीं हैं?" उस वृद्ध ने उत्तर में कहा था : "क्योंकि, आजकल इतना नीचा झुकने को कोई राजी ही नहीं।" निश्चय ही परमात्मा की नदी से पानी भरने के लिए भी झुकना आवश्यक है। जो नदी तट पर अकड़े खड़े हैं, वे कैसे उस पानी को भर सकते हैं?

१२. ज्ञान की उपलब्धि के लिए विनम्र और मुक्त मस्तिष्क से अधिक अनिवार्य और आवश्यक और कुछ भी नहीं है। लेकिन साधारणतः मस्तिष्क न तो विनम्र होता है, और न ही मुक्त। मस्तिष्क होता है अहंकारग्रस्त और पूर्वाग्रहों और पक्षपातों की सख्त कारागृह में आबद्ध। अहंकार भी तर से बांधे रहता है और पक्षपात और पूर्वाग्रह बाहर से। इन दोनों की कैद में मनुष्य की प्रज्ञा ढके हुए सत्य को उघाड़ने की सारी क्षमता ही धीरे धीरे खो देती है। अलबर्ट आइन्स्टीन से किसी ने पूछा : "वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व कौनसा है, जिसके बिना कि विज्ञान की खोज असंभव है?" और ज्ञात है कि आइन्स्टीन ने क्या कहा? जो उसने कहा, पूछनेवाले ने स्वप्न में भी उसकी कल्पना न की होगी। उसने कहा: "अहंकार शून्यता।" निश्चय ही ज्ञान की कुंजी अहंकारशून्यता है। अहंकार है अज्ञान। मैं से भरा हुआ मन इतना भरा हुआ होता है कि उसमें सत्य के अतिथि के आने योग्य स्थान ही नहीं होता है। मैं से मुक्ति हो तो सत्य आ सकता है। हृदय का घर छोटा है। उसमें दो नहीं समा सकते हैं। मित्र, कबीर ने गलत नहीं कहा। वह गली निश्चय ही सकरी है। और यह अहंकार ही है जो कि पूर्वाग्रहों और पक्षपातों का संग्रह कर लेता है। अज्ञान में होते हुए भी ज्ञानी दीखने के लिए इससे सुगमविधि और हो भी क्या सकती है? अहंकार अपनी पुष्टि के लिए ही ज्ञान इकट्ठा करता है। उसे पाकर वह स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है।

परिग्रह मात्र अहंकार की सुरक्षा के उपाय हैं। और इसीलिए ही विचारों का विवाद बहुत शीघ्र ही अहंकारों का युद्ध बन जाता है। फिर सत्य नहीं, मेरे सत्य के केन्द्र पर सारी शक्ति लग जाती है। मेरा सत्य, मेरा धर्म, मेरा शास्त्र, मेरा भगवान। क्या इन सबमें — सबके केन्द्र में मैं ही नहीं है? और जहां मैं है, वहां सत्य कहां? धर्म कहां? ज्ञान कहां? मैं जितना आक्रमक होता है, सत्य उतना ही दूर हट जाता है। इस स्थिति में अहंकार सिद्धांतों और शब्दों को ही सत्य मानकर तृप्ति कर लेता है। इस तृप्ति में भय तो होता ही है, जिसे सत्य माना है, उसके असत्य होने की संभावना और संदेह तो होता ही है। इसीलिए ही अहंकार स्वयं को ही विश्वास दिलाने के लिए माने हुए सत्य की जोर जोर से दुहाई देने लगता है। वह उसके लिए मरने मारने को भी तैयार हो जाता है। वह माने हुए सत्य के विरोध में कुछ भी सुनने तक से भय खाता है, क्योंकि सदा ऐसे तथ्यों के प्रगट होने की संभावानाएं बनी रहती है जो कि उसके सत्य को असत्य कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में न वह सुनना चाहता है, न सोचना चाहता है। वह तो जो उसने मान लिया है, उसमें, अंधेपन से संतुष्ट रहना चाहता है। सत्य की खोज में यह वृत्ति बहुत घातक है। सस्ती संतुष्टि को जो खोजता है, वह सत्य को नहीं खोज सकता। सत्य के लिए तो ऐसी संतुष्टि को भी खोना पड़ता है। संतुष्टि नहीं, लक्ष्य सत्य है और सत्य जब मिलता है तो संतुष्टि तो छाया की भांति उसके पीछे चली आती है। सत्य को किसी भी मूल्य पर खोजने के लिए जो कटिबद्ध है, वह संतुष्टि को तो अवश्य ही पा लेता है लेकिन जो संतुष्टि को ही खोजने लगता है, वह सत्य से तो वंचित रहता ही है, अंततः संतुष्टि से भी वंचित रह जाता है।

१३. प्रेम मुक्ति है। प्रेम का बंधन ही मुक्ति है। अनंत प्रेम के अनंत बंधनों में जो बंध जाता है, वह मुक्त हो जाता है। मैं कहता हूं: मुक्ति नहीं, प्रेम खोजो। क्योंकि मुक्ति की खोज अहंकार का बंधन भी हो सकती है, जबकि प्रेम की खोज तो अहंकार की मृत्यु के बिना प्रारंभ ही नहीं हो सकती है। प्रेम की खोज का अर्थ अहंकार की मृत्यु। और अहंकार की मृत्यु ही तो मुक्ति है। अहंकार संसार को पाने के स्वप्न देखता है। मृत्यु से भयभीत हो वह मोक्ष को जीतने के स्वप्न देखने लगता है। संसार की दौड़ में भी वही था। मोक्ष की दौड़ में भी वही है। इस सत्य को जो नहीं देखता वह बहुत गहरी आत्मवंचना में पड़ जाता है। अहंकार जहां है, वहीं संसार है, वहीं अमुक्ति है। वही तो है बंधन। वही तो है सारे बंधनों की मातृभूमि। उस भूमि में ही मोक्ष के बीज कैसे समा सकते

हैं ? अहंकार की मुक्त होने की अभीप्सा से ज्यादा मूढ़तापूर्ण बात और क्या हो सकती है ? मुक्ति के लिए अहंकार को नहीं, वरन् अहंकार से ही मुक्त होना है। इसीलिए अहंकार न तो संन्यास से डरता है, न त्याग से, न धर्म से, न ज्ञान से, न मोक्ष से। वह डरता है प्रेम से। संन्यास में, त्याग में, मोक्ष की साधना में—सबमें वह बच सकता है लेकिन प्रेम में उसका बचना असंभव है। प्रेम उसकी मृत्यु है। प्रेम उसकी नहीं, उससे ही मुक्ति है।

१४. मैं किसी भिन्न जगत् में नहीं हूं। उसी जगत में हूं, जहां सब हैं। किंतु जीवन को देखने की दृष्टि निश्चय ही आमूलतः बदल गई है। और उस दृष्टि का बदल जाना जैसे कि इस जगत् का ही बदल जाना है। क्योंकि हम वही देखते ह जो कि हम हैं। हमारी दृष्टि ही हमारा जगत् और जीवन है। जैसी दृष्टि है, वैसी ही सृष्टि हो जाती है। जीवन दुख मालुम होता हो तो जानें कि सृष्टि दुख की है और जीवन को नहीं, दृष्टि को बदलने में संलग्न हो जावें। दृष्टि को बदलने का अर्थ है स्वयं को बदलना। स्वयं पर ही सब निर्भर है। स्वयं में ही नर्क है और स्वयं में ही स्वर्ग। स्वयं में ही संसार है और स्वयं में ही मोक्ष। जो है, वह तो सदा वही है किंतु एक दृष्टि उसे बंधन बना देती है और दूसरी मुक्ति। अहंकार के बिन्दु से देखने पर जीवन नर्क हो जाता है। क्योंकि वह दृष्टि सर्व विरोधी है। सर्व-सत्ता से भिन्न और विरोध में होकर ही तो मैं "मैं" हो सकता हूं। मैं होने की चेष्टा सर्व से संघर्ष और प्रतिरोध की साधना है। ऐसी चेष्टा से ही चिन्ता फलित होती है और संताप का जन्म होता है। इससे ही मिटने का और मृत्यु का भय पैदा होता है। फिर जो असत्य है और असंभव है उसके लिए प्रयासरत होने से दुख आता हो तो आश्चर्य भी नहीं है। अहंकार शून्यता का भी एक बिन्दु है। जगत को उस बिन्दु से भी देखा जा सकता है। "मैं" सर्व से विरोध है, संघर्ष है। "न—मैं" सर्व से सम्मिलन है। वह सम्मिलन सत्य है क्योंकि सत्ता अखंड और अविभाज्य है। सब खंड और सब विभाजन मनुष्य-कल्पित हैं। मैं हूं, तो खंड में हूं। मैं नहीं हूं, तो अखंड में हूं। और खंड में होना बंधन है, अखंड मे होना मुक्ति है। मैं हूं, तो दुख में हूं क्योंकि वह होना ही सतत द्वन्द है, युद्ध है, संघर्ष है। मैं नहीं हूं, तो आनन्द में हूं क्योंकि न हो जाना अनन्त शांति है। मैं से मुक्त होते ही चेतना परम्परा से मुक्त हो जाती है। मैं से वियोग, परमात्मा से योग है।

१५. प्रकृति से विरोध मूर्खतापूर्ण है। परमात्मा को प्रकृति के विरोध में नहीं पाया जा सकता। वह तो प्रकृति में ही छिपा है। इसीलिए प्रकृति से

लड़ना नहीं है, वरन् प्रकृति को उघाड़ना है। वह तो पर्दा है, उसे उठाना है। प्रकृति उसका ही अंग है, उसकी ही अभिव्यक्ति है। उसमें ही गहरे केन्द्र पर वह बैठा है। प्रकृति से लड़कर हम उसके निकट नहीं, और दूर ही पहुंच सकते हैं। किन्तु सदा से यह लडाई ही सिखाई गई है। परमात्मा को प्रकृति के विरोध में खड़ा किया गया है। मनुष्य की आध्यात्मिक दीनता इस विरोध का ही परिणाम है। उसे प्रकृति से लड़कर परमात्मा को खोजने के लिए कहा गया है। जबकि प्रकृति परमात्मा में है और परमात्मा प्रकृति में। प्रकृति से मुक्त होकर परमात्मा नहीं है। प्रकृति से पूर्णतया संयुक्त होकर ही परमात्मा है। प्रकृति विरोधी शिक्षाओं ने मनुष्य के जीवन से परमात्मा से मिलन की सीढ़ी ही छीन ली है। प्रकृति तो सेतु है। उसपर रुकना नहीं है। पर उसपर से जाना जरूर है। उससे लड़ना नही है। वह तो सहयोगी है। वह तो पहुंचानेवाला मार्ग है। उसके अतिरिक्त तो और कोई मार्ग ही नहीं है। प्रकृति को प्रेम करना है। समग्र मन से प्रेम करना है। प्रेम ही उसका द्वार खोलता है। और उस द्वार से ही उसके दर्शन होते हैं जो कि परमात्मा है। किंतु हमें तो बताया गया है कि प्रकृति बंधन है। वह कारागृह है। वह पाप है। इन गलत सिखावनों ने मनुष्य के मन को विषाक्त कर दिया है और प्रकृति के प्रति उसके प्रेम और ज्ञान की संभावना को गहरी चोट पहुंचाई है। और यह चोट उसके और परमात्मा के बीच दूरी और अलगाव का कारण हो गई है। परमात्मा को मनुष्य के जीवन में वापस लाना हो तो उसके पूर्व प्रकृति को उसके जीवन में वापस लाना आवश्यक है। मनुष्य–हृदय में प्रकृति की प्रतिष्ठा के बिना परमात्मा की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती। प्रकृति का प्रेम ही अंततः परमात्मा की प्रार्थना में रुपांतरित होता है। प्रकृति से मुक्ति नहीं, प्रकृति में ही मुक्ति है।

१६. एक पहाड़ी झरने के पास हम बैठे थे। झरने के नीचे ही छोटा-सा कुंड था। उसमें बहुत सी मछलियां थीं। और पास में ही रेत में छोटे छोटे शंख और सींप थे। उन्हें मैने हाथ में उठा लिया था और जो साथ थे उनसे कहा था: "देखो। इन सींपों में अजन्मे जीव हैं। जब वे सींपों को तोड़ने में समर्थ हो जावेंगे उनका जन्म होगा। और क्या ऐसे ही हमारे भीतर भी अजन्मा जीवन नहीं है? क्या सींप जैसी ही कोई सख्त चीज से भी हमे नहीं घेरे हुए है? क्या हमारी अहंतायें सींपों की भांति ही नहीं हैं।? और क्या इन्हें तोड़कर हम भी उस जीवन को जन्म नहीं दे सकते हैं जो कि हमारे भीतर अभी अजन्मा है? –"मैं" उस जीवन के जन्म के विरोध में है और यह "मैं" भलीभांति जानता है कि स्वयं की रक्षा कैसे की जाय। संपत्ति से, यश से, पद से तो वह अपनी रक्षा करता ही है। किन्तु और भी सूक्ष्मरूपों में धर्म, नीति, पुण्य, आदर्श, मोक्ष, आदि से भी वह अपनी रक्षा करता है। वह जीना चाहता है, बढ़ना चाहता है, समृद्ध होना चाहता है। किन्तु स्मरण रहे कि वह जितना सुदृढ होता जायेगा, उतनी ही उस जीवन के विकास की संभावना क्षीण होती जायेगी, जिसके लिए कि वह एक खोलमात्र है। अहंकार की कठोरता अंततः अजन्मी आत्मा की भ्रूणहत्या हो जाती है। आत्मा के जन्म के लिए अहंकार की मृत्यु आवश्यक है।

१७. मैं क्या बोल रहा हूं? शब्द ? नहीं। नहीं। शब्दों को ही जो सुनेंगे वे उसे नहीं समझ सकेंगे जो कि मैं बोल रहा हूं। क्या किन्हीं विचारों पर हम विचार कर रहे हैं। ? नहीं। नहीं। विचारों पर विचार नहीं कर रहे हैं। वस्तुतः विचार ही नहीं कर रहे हैं। वरन् जीवन की एक अवस्था को, अस्तित्व की एक स्थिति को खोज रहे हैं—। सत्ता में————————शुद्ध सत्ता में प्रवेश खोज रहे हैं। लेकिन, तब निश्चय ही समझने का अर्थ मात्र समझना नहीं है, वरन् प्रवेश है। जीवन में प्रवेश करके ही जीवन को समझा जा सकता है। प्रेम में होकर ही प्रेम को जाना जा सकता है। विचार में यात्रा नहीं करनी है। अपितु अस्तित्व में छलांग लगानी है। क्या मैं अपनी बात समझा पा रहा हूं! उसे समझने की चिन्ता न करें। वैसी चिन्ता उल्टे समझने ही न देगी। विचार करें। देखें। वृक्षों पर फूल खिलें हैं। बाहर देखें। गुलमुहर पर कैसे फूल छाये हैं? क्या उन्हें सोचते हैं या कि देखते हैं? यह कोयल बोले जा रही है। उसे सोचते हैं या कि सुनते हैं? ऐसे ही जो मैं कह रहा हूं उसे सुनें और देखें। विचार नहीं, गहरी और पैनी दृष्टि ही उसके अर्थ में ले जा सकती है। विचार, शब्द पर ठिठक जाता है, दृष्टि, निशब्द को भेद देती है। विचार व्यर्थ विचारने लगता है, दृष्टि अर्थ को उघाड देती है। और दृष्टि उतनी ही गहरी होती है, जितनी विचारों से मुक्त होती है। विचार में समय लगता है। वह क्रिया है। ज्ञान में, अंतर्दृष्टि में समय नहीं है। वह तो बोध की अत्यन्त प्रगाढ़ दशा है। क्या सौंदर्यानुभूति के किसी क्षण में, प्रेम या आनन्द की किसी अनुभूति में इसे नहीं जाना है? क्या उस समय प्रगाढ़ चेतना ही शेष नहीं रह जाती है और विचार विदा नहीं हो जाते हैं? जीवन में जो भी सत्य है, सुन्दर, है, शिव है, वह विचारों की तरंगों में नहीं वरन् निर्विचार की निस्तरंग शांति में ही जाना जाता है।

१८. मैं तथाकथित संन्यास को अज्ञान मानता हूं। मेरे देखे, जहां ज्ञान है वहां कैसा संन्यास ? अज्ञान में त्याग है, क्योंकि अज्ञान में भोग है। अज्ञान में पुण्य है क्योंकि अज्ञान में पाप है। जो जानता है, वह पाप और पुण्य दोनों से मुक्त हो जाता है। जो जानता है, उससे भोग और योग दोनों ही विदा ले लेते हैं। ज्ञान में राग और विराग का द्वन्द्व नहीं है। वह स्थिति तो अद्वन्द्व की है। वहां न संसार है, न संन्यास है। वहां तो केवल सत्य है। वहां तो केवल सत्ता है। अज्ञान द्वन्द में जीता है। द्वन्द ही उसका प्राण है। इसीलिए वह चित को एक अति से दूसरी अति पर भटकाता रहता है। भोग छूटता है तो त्याग पकड जाता है। और त्याग क्या है? क्या त्याग भोग का ही विरोध नहीं है? विराग क्या है? क्या विराग राग से ही शत्रुता नहीं है? और संन्यास क्या है? क्या वह संसार से ही विपरीत दिशा में भागना नहीं है? लेकिन स्मरण रहे कि चित्त जिसके भी विरोध में होता है, उससे ही बंध जाता है। इसीलिए विरोध नयी दासता तो हो सकती है, स्वतंत्रता वह नहीं है। स्वतंत्रता असत्य से विरोध में या पलायन में नहीं है। स्वतंत्रता तो सत्य के ज्ञान में है। सत्य ही और केवल सत्य ही मुक्त करता है।

१९. सत्य क्या है? कोई सिद्धान्त? कोई संप्रदाय? कोई संगठन? कोई

शास्त्र? कोई शब्द ? नहीं। सत्य सिद्धान्त नहीं है क्योंकि सिद्धान्त हैं मृत और सत्य है स्वयं जीवन। सत्य संप्रदाय नहीं है, क्योंकि उस तक पहुंचने का कोई मार्ग ही नहीं है। अज्ञात और ज्ञात मार्ग अज्ञात तक कैसे ले जा सकते हैं? सत्य संगठन भी नहीं है, क्योंकि वह है कालातीत अनुभूति—अत्यंत वैयक्तिक और निजी—उसे काल के प्रवाह में संगठित कैसे किया जा सकता है? सत्य शास्त्र नहीं है क्योंकि सब शास्त्र मनुष्य कृत हैं और सत्य अकृत है, असृष्ट है, अनादि है और अनन्त है। सत्य शब्द भी नहीं है क्योंकि शब्द पैदा होते हैं और विलीन हो जाते हैं जबकि सत्य सदा है, सदैव है, सनातन और शाश्वत है। फिर सत्य क्या है? वस्तुतः "क्या" की भाषा में सत्य सत्य है ही नहीं। वह तो है, जो है, वही वह है। उसे सोचा—विचारा नहीं जा सकता, यद्यपि उसमें हुआ जा सकता है। सोच——विचार ही उसमें होने में बाधा है। संगीत की लयबद्धता में, प्रेम की परिपूर्णता में, प्रकृति के सौंदर्य में जब व्यक्ति न होने जैसा ही हो जाता है, तब जो है, वही सत्य है। व्यक्ति असत्य है। अव्यक्ति सत्य है। अहं असत्य है। ब्रह्म सत्य है।

२०. व्यक्ति उलझा हुआ है, इसीलिए समाज उलझा हुआ है। व्यक्ति की समस्या ही विश्व की समस्या है। और व्यक्ति क्यों समस्या में है? व्यक्ति समस्या में नहीं, अपितु व्यक्ति ही समस्या है। उसकी व्यक्ति–चेतना ही समस्या है। उसकी अहं चेतना ही समस्या है। "मैं हूं"————————इनमें से "मैं" नहीं हो जाये और मात्र "हूं" की अनुभूति हो सके तो समस्या विलीन हो जाती है और समाधान द्वार–आ जाता है। वस्तुतः, जीवन होना मात्र है। वह तो सहज प्रवाह है। उस प्रवाह पर मैं आरोपण है। "मैं" उस सहज प्रवाह पर असहज बांध है। स्वयं में "मैं" को खोजो। वह कहां है? मैं कहां है? कहीं भी तो नहीं। जीवन है, होना है, पर मैं कहां है? किंतु हम तो सारा जीवन ही मैं पर खडा करते हैं, तब कौनसा आश्चर्य है यदि इस जीवन में कहीं भी शांति के दर्शन न होते हों? हमारा धर्म, हमारी सभ्यता सभी तो मैं पर खडे हैं, तब क्या यह स्वाभाविक ही नहीं हैं कि उनकी सबसे चिन्ता, तनाव, उन्माद और और विक्षिप्ताए पैदा होती हो ;? मैं की भूमि पर जो भी निर्मित है, वह सब अस्वस्थ है और अस्वस्थ ही हो सकता है। मैं के केन्द्र पर बनाया गया जीवन ही जन्म और मृत्यु की यात्रा करता है। मैं का ही जन्म है। मैं की ही मृत्यु है। स्वप्न ही पैदा होते हैं और स्वप्न ही विलीन हो जाते हैं। जो है, उसका न तो जन्म है और न मृत्यु है। वह तो बस है————है————है। "मैं" को भूलो————छोडो। और "है" में जागो————जिओ। "मैं" "है" में नहीं जागने देता, नहीं जीने देता। वह या तो अतीत में होता है या उसकी ही प्रतिध्वनि ————————भविष्य में। जबकि जीवन है सदा वर्तमान————सदा अभी और यहीं। "मैं" से मुक्त होकर जो इस वर्तमान में जाग जाता है, वह पाता है कि जीवन का अमृत, सत्य, सौदर्य और संगीत उसे सब ओर से, सब दिशाओं से., बाहर से, भीतर से————————————वैसे ही घेरे हुए है जैसे मछली को सागर घेरे रहता है।

जीवन में अंतिम होना

(प्रवचनोंसे संकलित बोधकथायें)

संकलन : प्रो. अरविन्द, एम. कॉम.

१

प्रेम शक्ति है। और जो प्रेम से जीतता है वही वस्तुतः जीतता है। प्रेम जहां है, वहां परमात्मा है क्योंकि प्रेम परमात्मा की उपस्थिति का प्रकाश है।

और स्मरण रहे कि जब भी तुम्हारा मन क्रोध से भरता है, घृणा से भरता है तभी तुम अशक्त हो जाते हो और परमात्मा से तुम्हारे संबंध क्षीण हो जाते हैं।

इसीलिए ही तो क्रोध में, घृणा में, द्वेष में दुख और संताप पैदा होते हैं। संताप की मनोदशा सर्व की सत्ता से स्वयं की जड़ों के पृथक होने से पैदा होती है।

और प्रेम आनन्द से भर देता है, शांति संगीत से, और करुणा ऐसी सुगंधियों से जो कि इस पृथ्वी की नहीं हैं।

क्यों ?

क्योंकि, उनमें होकर तुम सर्वात्मा के निकट हो जाते हो। क्योंकि, उनमें होकर तुम परमात्मा के हृदय में स्थान पा जाते हो। क्योंकि उनमें होकर तुम तुम नहीं रहते, वरन् परमात्मा ही तुमसे प्रगट होने लगता है।

इसीलिए मैं कहता हूं कि जीवन में जो अखंड और अटूट प्रेम को पा लेता है, वह सब पा लेता है।

एक घटना मुझे स्मरण आती है। मुहम्मद अपने शिष्य अली के साथ किसी मार्ग से गुजरते थे। अली के एक शत्रु ने आकर उसे रोक लिया और उसका अपमान करने लगा। अली ने शांति से उसके दुर्वचन सुने। उसकी आंखों में प्रेम और प्रार्थना थी। वह शत्रु की विषाक्त बातों को ऐसा सुनता रहा कि जैसे वह उसकी प्रशंसा करता हो। उसका धैर्य अद्‌भुत था लेकिन अँततः उसने भी धैर्य खो दिया और वह भी शत्रु के तल पर नीचे उतर आया और ईंट का जबाब पत्थर से देने लगा। धीरे-धीरे उसकी आखें क्रोध से भर गईं और उसके हृदय में घृणा और प्रतिशोध के बादल गरजने लगे। उसका हाथ तलवार पर जा चुका था। मुहम्मद अब तक शांति से बैठे सब देख रहे थे। अचानक वे उठे और अली तथा उसके शत्रु को वहीं छोड़कर एक ओर चले गये। इससे अली को बहुत आश्चर्य हुआ और मुहम्मद के प्रति मन में शिकायत भी आई। रास्ते मे जब मुहम्मद मिले तो उसने उनसे कहा: "आपका यह कैसा व्यवहार? शत्रु मुझे रोके था और आप मुझे बीच में छोड़कर चले आये? क्या यह मृत्यु के मुंह में ही छोड़ आने जैसा नहीं है?" मुहम्मद ने कहा "प्यारे! वह मनुष्य निश्चय ही बहुत हिंसक और क्रूर था और उसके वचन भी बहुत क्रोध से भरे हुए थे। लेकिन मैं तुझे शांत और प्रेम से भरा देखकर बहुत आनन्दित था। उस समय मैंने देखा कि परमात्मा के दस दूत तेरी रक्षा कर रहे थे और उनके शुभाशीषों की तेरे ऊपर वर्षा हो रही थी। प्रेम और क्षमा के कारण तू सुरक्षित था। लेकिन, जैसे ही तेरा हृदय करूणा को छोड़कर कठोर हुआ और तेरी आंखें प्रतिशोध की लपटें प्रगट करने लगीं वैसे ही मैंने देखा कि वे देवदूत तुझे छोड़कर चले गये हैं। उस समय उचित ही था कि मैं भी वहां से हट जाऊं। परमात्मा ने ही तेरा साथ छोड़ दिया था!"

२

मैं प्रत्येक से पूछता हूं कि जीवन में तुम क्या खोज रहे हो? जीवन की खोज में ही जीवन का अर्थ और मूल्य छिपा है।

कोई यदि कंकड़ पत्थर ही खोजता हो तो उसके जीवन का मूल्य उसकी खोज से ज्यादा कैसे होगा?

किन्तु अधिक व्यक्ति क्षुद्र की खोज में ही क्षुद्र हो जाते हैं और अंततः पाते हैं कि जीवन की संपदा उनने ऐसी संपदा को खोजने में गंवा दी है जो कि संपदा ही नहीं थी।

यह उचित है कि किसी भी यात्रा के पहले हम ठीक से जान लें कि हम कहां पहुंचना चाहते हैं और क्यों पहुंचना चाहते हैं और यह भी कि क्या गन्तव्य यात्रा की कठिनाइयों और श्रम को झेलने योग्य भी है ?

जो विचार कर नहीं चलता, वह अक्सर पाता है कि या तो वह कहीं पहुंचता ही नहीं, या फिर कहीं पहुंच भी जाता है तो जहां पहुंच जाता है, उस स्थान को पहुंचने योग्य ही नहीं पाता।

मैं चाहता हूं कि ऐसी भूल तुम्हारे जीवन में न हो। क्योंकि, ऐसी भूल सारे जीवन को ही नष्ट कर देती है।

जीवन है छोटा। शक्ति है सीमित। समय है अल्प। इसीलिए, जो विचार से और सावधानी से और सजगता से चलते हैं, वे ही कहीं पहुंच पाते हैं।

एक फकीर हुआ। नाम था उसका शिब्ली। किसी यात्रा पर था। मार्ग में एक युवक को तेजी से कहीं जाते हुए देखा तो उसने पूछा : "मित्र, कहां भागे जा रहे हो ?" उस युवक ने बिना ठहरे ही कहा : "अपने घर।" शिब्ली ने इस पर एक बड़ा अजीब सा सवाल किया। पूछा : "कौनसा घर ?"

मैं भी तुमसे यही पूछता हूं। तुम भागे जा रहे हो। सभी भागे जा रहे हैं। मैं पूछता हूं : "कहां भागे जा रहे हो ?"

यह सारी दौड़ कहीं अंधी तो नहीं है ?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि सब भाग रहे हैं, इसी लिए तुम भी भाग रहे हो ? बिना यह जाने कि कहां जाना है ?

क्या तुम भी किसी घर की खोज में हो ? लेकिन, कौनसा घर ?

काश, इसके उत्तर में तुम भी वही कह सको जो उस युवक ने शिब्ली को कहा था, तो मेरे प्राण आनन्द से नाच उठेंगे !

उस युवक ने कहा था "एक ही तो घर है : परमात्मा का घर। उसकी ही खोज में हूं।"

निश्चय ही शेष सब स्वप्न है——शेष किसी भी घर की खोज स्वप्न है। घर तो एक ही है——वास्तविक घर तो एक ही है : परमात्मा का घर। और जो उसे खोजना चाहता है उसे स्वयं को ही खोजना पड़ता है, क्योंकि स्वयं में ही वह छिपा हुआ है।

क्या परमात्मा के अतिरिक्त कोई और घर भी है ?

और क्या स्वयं के अतिरिक्त परमात्मा को कहीं और भी पाया जा सकता है ?

मैं शिब्ली की जगह होता तो उस भागते युवक से एक सवाल और पूछता। पता नहीं वह क्या उत्तर देता, लेकिन सवाल तो मैं तुम्हें बता ही दूं ?

मैं उससे कहता : "मित्र, परमात्मा को पाना है तो भाग क्यों रहे हो? कहां भागे जा रहे हो ? जो यहीं है, उसे भागकर कैसे पाओगे ? जो इसी-क्षण है, अभी है उसे कभी——भविष्य में पाने की कामना क्या भ्रांति नहीं ? और जो भीतर है, उसे भागकर खोया ही जा सकता है। उसे पाने के लिए क्या उचित नहीं है कि ठहरो और रुको, और स्वयं में देखो ?

३

एक कथा मैंने सुनी थी। हजारों वर्ष पूर्व परमात्मा के मंदिरों का एक नगर सागर में डूब गया था। उस सागर में डूबे उन मंदिरों की घंटियां आज भी बजती रहती हैं। शायद पानी के धक्के उन्हें बजा देते होंगे। या यहां वहां भागती मछलियों से टकराकर वे बजती रहती होंगी। जो भी हो, घंटियां आज भी बजती हैं और आज भी उनके मधुर संगीत को उस सागर के तट पर जाकर सुना जा सकता है।

मैं भी उस संगीत को सुनना चाहता था। सो उस सागर की खोज में गया। बहुत वर्षों की भटकन के बाद अंततः उस सागर तट पर पहुंच ही गया। किन्तु यह क्या ? वहां तो सागर का तुमुलनाद गूंज रहा था—— लहरों के थपेड़े चट्टानों से टकराकर उस एकान्त में अनन्तगुना हो प्रतिध्वनित हो रहे थे। न तो वहां कोई संगीत था, न किन्हीं मंदिरों की बजती कोई घंटियां थीं। मैं तट पर कान लगाकर सुनता था, लेकिन वहां तो तट पर टूटती लहरों की ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी न था ?

फिर भी मैं रुका रहा। वस्तुतः लौटने का मार्ग ही मैं भूल गया था। अब तो वह अपरिचित निर्जन सागर तट ही मेरी समाधि बनने को था।

और फिर धीरे – धीरे सागर में डूबे मंदिरों की घंटियां सुनने का ख्याल भी मुझे भूल गया। मैं उस सागर के किनारे ही बस गया था।

फिर एक रात्रि अचानक मैंने पाया कि डूबे मंदिरों की घंटियां बज रही हैं

और उनका मधुर संगीत मेरे प्राणों को आंदोलित कर रहा है।

मैं उस संगीत को सुनकर जाग गया और फिर तबसे सो नहीं सका। अब तो भीतर कोई निरन्तर ही जागा हुआ है। निद्रा सदा को ही चली गई है।

और जीवन आलोक से भर गया है क्योंकि जहां निद्रा नहीं है, वहां अंधकार नहीं है!

और मै आनन्द में हूं ——— नहीं, नहीं——— मैं आनन्द ही हो गया हूं क्योंकि जहां परमात्मा के मंदिर का संगीत है, वहां दुख कहां?

क्या तुम भी उस सागर के किनारे चलना चाहते हो? क्या तुम्हें भी परमात्मा के डूबे मंदिरों का संगीत सुनना है?

तो चलो। स्वयं के भीतर चलो। स्वयं का हृदय ही वह सागर है और उसकी गहराइयों में ही परमात्मा के डूबे हुए मंदिरों का नगर है।

लेकिन, उसके मंदिरों का संगीत सुनने में केवल वे ही समर्थ होते हैं जो कि सब भांति शान्त और शून्य हों।

विचार और वासना का कोलाहल जहां है, वहां उसका संगीत कैसे सुन पड़ेगा?

उसे पाने की वासना तक भी उसे पाने में बाधा बन जाती है।

४

एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा कि क्या आपको परमात्मा से कोई शिकायत नहीं?

मैं क्या कहता? थोड़ी देर तक तो चुप ही रह गया। क्योंकि, जब तक परमात्मा का पता न हो तभी तक शिकायत हो सकती है और जब-तक शिकायत है तब तक उसका पता नहीं हो सकता।

परमात्मा की अनुभूति तो केवल उस चित्त में ही हो सकती है, जो कि सब आकांक्षाओं और अपेक्षाओं से मुक्त हो गया है। और जहां आकांक्षा नहीं अपेक्षा नहीं, वहां शिकायत कैसी?

जो है———जो हो रहा है, उसके सहज स्वीकार से ही उस चित्त भूमि का निर्माण होता है, जहां कि परमात्मा के बीज अंकुरित हो सकें।

एक हिब्रू कथा है। कभी एक फकीर हुआ – अकीबा। वह परमात्मा की खोज में भटकता था। प्रार्थनायें करते-करते वह थक गया था। और उपवास

करते करते उसके अंतिम दिन निकट आ गये थे। लेकिन परमात्मा दूर था, सो दूर ही रहा। फिर भी उसकी कोई शिकायत न थी। और, शत्रु उसके पीछे पड़े थे। बुढ़ापे में भी उसे एक गांव से दूसरे गांव भागना पड़ रहा था। सबने उसका साथ छोड़ दिया था। उसके पास एक कंदील थी, जिसके प्रकाश में वह धर्मशास्त्र पढ़ लेता था और था एक मुर्गा जो उसे भोर होते ही जगा देता था और था एक गधा, जिसपर वह एक गांव से दूसरे गांव यात्रा करता रहता था। यही थे उसके साथी। और, हृदय में परमात्मा के लिए प्रार्थना थी और धन्यवाद था। एक अंधेरी अमावस की रात्रि में बहुत थका मांदा वह एक गांव में गया किन्तु उस गांव में लोगों ने उसे शरण न दी। उसने उन्हें धन्यवाद दिया और परमात्मा को भी, और गांव के बाहर जाकर एक सूखी बावली में ठहर गया। उसने अपनी कंदील जलाई लेकिन हवा के तेज झोंकों ने उसे बुझा दिया। उसने परमात्मा को पुनः धन्यवाद दिया और विश्राम करने को लेट गया लेकिन तभी एक भेडिये ने उसके मुर्गे को मार डाला और एक सिंह उसके गधे को खा गया। उसने पुनः भगवान को धन्यवाद दिया और सोने की कोशिश की और तभी ——— उसी रात्रि जबकि वह बिल्कुल असहाय था, भूखा और प्यासा और थका मांदा और उससे सब कुछ छीन लिया गया था, उसका धन्यवाद देनेवाला हृदय परमात्मा के दर्शन को उपलब्ध हुआ। उसने सत्य को जाना क्योंकि वह समता को और स्वीकार को उपलब्ध हो गया था।

९

सुबह से सांझ तक सैकड़ों लोगों को मैं एक दूसरे की निंदा में संलग्न देखता हूं। हम सब कितने शीघ्र दूसरों के संबंध में निर्णय लेते हैं! जबकि किसी के भी संबंध में निर्णय करने से कठिन और कोई बात नहीं। शायद, परमात्मा के अतरिक्त किसी का निर्णय करने का कोई भी अधिकारी नहीं, क्योंकि एक व्यक्ति को ——— एक छोटे से, साधारण से मनुष्य को भी जानने के लिए जिस धैर्य की अपेक्षा है, वह परमात्मा के सिवाय और किसमें है?

क्या हम एक दूसरे को जानते हैं? वे भी जो एक दूसरे के बहुत निकट हैं—— क्या वे भी एक दूसरे को जानते हैं?

मित्र, क्या मित्र भी एक दूसरे के लिए अपरिचित और अजनबी ही नहीं बने रहते हैं?

लेकिन, हम तो अपरिचितों को भी जांच लेते हैं और निर्णय ले लेते हैं और वह भी कितनी शीघ्रता से !

ऐसी शीघ्रता अत्यन्त कुरूप होती है, लेकिन जो व्यक्ति अन्यों के संबंध में विचार करता रहता है, वह अपने संबंध में विचार करने की बात भूल ही जाता है ! और ऐसी शीघ्रता निपट अज्ञान भी है, क्योंकि ज्ञान के साथ होता है:, धैर्य — अनंत धैर्य ।

जीवन बहुत रहस्यपूर्ण है और जो जल्दी अविचारपूर्वक निर्णय लेने के आदी हो जाते हैं, वे उसे जानने से वंचित ही रह जाते हैं ।

एक घटना मैंने सुनी है । पहले महायुद्ध के समय की बात है। एक कमांडर ने अपने सैनिकों को कहा : "सैनिको, बहुत, खतरनाक कार्य के लिए पांच सैनिक चाहिए । उस कार्य में जीवन के बचने की संभावना नहीं है । इसीलिए जो स्वेच्छा से जोखिम उठाने को तैयार हों, वे अपनी पंक्ति से दो कदम आगे आ जावें ।" वह अपनी बात पूरी कह ही पाया था, कि एक घुड़सवार ने आकर उसका ध्यान बटा लिया । वह कोई अत्यन्त आवश्यक संदेश उसे देने आया था । संदेश को लेने और पढ़ने के बाद उसने आंखें अपनी टुकड़ी के सैनिकों की ओर उठाई । उनकी पंक्तियों को अखंड देख, वह क्रोध से भर गया । उसकी आंखों से चिन्गारियां छूटने लगी और वह चिल्लाया : "कायरो, नामर्दो ——— क्या एक भी मर्द तुम्हारे बीच में नहीं है ?" उसने और भी गालियां उन्हें दीं । और दंड की धमकियां भी दीं, और तभी उसे ज्ञात हुआ कि एक नहीं, सारे सैनिक ही दो कदम आगे बढ़ गये थे !

६

मैं एक दिन राह के किनारे बैठा था । वृक्षों की घनी छाया में बैठा-बैठा राह चलते लोगों को देखता रहा । उन्हें देखकर बहुत से विचार मेरे मन में आए । वे कहीं भागे चले जा रहे थे । बच्चे, जवान, बूढ़े, स्त्री, पुरुष । सभी भागे जाते थे । उनकी आखें कुछ खोजती प्रतीत होती थीं और उनके पैर किसी बडी यात्रा में संलग्न । लेकिन वे कहां भागे जा रहे थे ? क्या था उनका गन्तव्य ? और क्या अंत में वे पावेंगे कि कहीं पहुंचे ?

और यही विचार तुम्हें देखकर भी मेरे मन में उठता है ।

और उस विचार के साथ ही साथ मैं एक गहरी पीड़ा से भी भर जाता

हू, क्योंकि मैं जानता हूं कि तुम कहीं भी नहीं पहुँचोगे। नहीं पहुँचोगे इसलिए, क्योंकि तुम्हारा मन और तुम्हारे चरण परमात्मा के विरोध में चल रहे हैं।

जीवन में कहीं पहुंचने का राज है : परमात्मा की दिशा में चलना। उसके अतिरिक्त कोई भी दिशा, कोई भी मार्ग कहीं नहीं पहुंचाता। परमात्मा की दिशा में बहो। उसके विपरीत तैरकर मनुष्य केवल स्वयं को तोड़ता और नष्ट करता है।

मनुष्य का भय क्या है? उसकी चिंता क्या है? उसका–दुख क्या है? उसकी मृत्यु क्या है?

मेरे देखे : परमात्मा के विरोध में तैरने की अहं – चेष्टा से ही ये सब रूग्णतायें पैदा होती हैं।

अहंकार दुख है अहंकार रोग है। क्योंकि अहंकार परमात्मा के विरोध की दिशा है। और परमात्मा का विरोध स्वयं का विरोध है।

मैंने एक घटना सुनी है : एक छोटे से वायुयान का चालक १५० मील प्रतिघंटा की चाल से उड़ा जा रहा था। अचानक उसने पाया कि वह एक भयंकर आंधी की धारा में पड़ गया है। अंधड़ बहुत तूफानी था। संभवतः वह भी १५० मील प्रतिघंटा की गति से ही यान की विरोधी दिशा में भागा जा रहा था। इस प्रचंड आंधी में फंसकर चालक के प्राण संकट में थे और उसके यान का बचना संभव नहीं दीखता था। आश्चर्य तो यह था कि यान के सभी यंत्र यथावत् कार्यकर रहे थे और इंजिन शोर कर रहे थे, लेकिन यान एक भी इंच आगे नहीं बढ़ रहा था। बाद में उस चालक ने कहा : "कितना विचित्र अनुभव था वह। १५० मील प्रतिघंटा की गति से भागते हुए एक इंच भी आगे न बढ़ पाना! कितनी गति से मैं जा रहा था और फिर भी कहीं नहीं जा रहा था।"

क्या ऐसा ही जीवन में भी नहीं होता है? नहीं हो रहा है?

परमात्मा की दिशा में जो नहीं चल रहे हैं वे भी पायेंगे कि चल तो बहुत रहे हैं लेकिन पहुंच कहीं भी नहीं रहे हैं।

परमात्मा यानी स्वयं की आत्यंतिक सत्ता।

परमात्मा यानी स्वरूप।

और, क्या यह ठीक ही नहीं है कि स्वयं के विरोध में चलकर कोई कहीं कैसे पहुंच सकता है?

जीवन का आनन्द उनका है जो स्वयं में जीते और स्वयं को जानते और स्वयं को उपलब्ध करते हैं।

७

एक बुढिया बहुत बीमार थी। घर में वह अकेली ही थी इसलिए बहुत कठिनाई में पड़ी थी। एक दिन सुबह-सुबह ही दो अत्यन्त भद्र और धार्मिक दीखनेवाली महिलायें उसके पास आई। उनके माथों पर चन्दन था, और हाथों में रुद्राक्ष की मालायें। उन्होंने आकर उस बुढ़िया की सेवा शुरू कर दी और कहा : "परमात्मा की प्रार्थना से सब ठीक हो जायेगा। विश्वास शक्ति है और विश्वास कभी निष्फल नहीं जाता है।" उस सीधी बुढ़िया ने उनकी बातों पर विश्वास कर लिया। फिर वह अकेली थी और अकेला व्यक्ति किसी पर विश्वास करना चाहता है। और वह पीड़ा में थी और पीड़ा में मनुष्य का मन सहज ही विश्वासी हो जाता है। उन अपरिचित महिलाओं ने दिन भर उसकी सेवा की। सेवा और दिनभर की धार्मिक बातों के कारण बुढ़िया का विश्वास और भी बढ़ गया। फिर रात्रि में उन महिलाओं के निर्देशानुसार वह एक चादर ओढ़कर भूमि पर लेटी ताकि उसके स्वास्थ्य के लिए परमात्मा से प्रार्थना की जा सके। धूप जलाई गई। सुगंध छिड़की गई। और एक महिला उसके सिर पर हाथ रखकर अबूझ मंत्रों का उच्चार करने लगी। और फिर मंत्रों की एकसुरी ध्वनि ने बुढ़िया को थोड़ी ही देर में सुला दिया। आधीरात को उसकी नींद खुली। घर में अंधकार था। उसने दिया जलाया तो पाया कि वे अपरिचित महिलायें न मालुम कबकी चली गई हैं। घर के द्वार खुले पड़े हैं और उसकी तिजोड़ी भी टूटी पड़ी है। विश्वास अवश्य ही फलदायी हुआ था। बुढ़िया को तो नहीं, लेकिन उस धूर्त महिलाओं को। और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि विश्वास सदा ही धूर्तों को फलदायी हुआ है।

धर्म विश्वास नहीं, विवेक है। वह अंधापन नहीं, आंखों का उपचार है।

किन्तु, शोषण के लिए विवेक बाधा है और इसीलिए विश्वास का विष पिलाया जाता है।

विचार विद्रोह है और चूंकि विद्रोही का शोषण असंभव है इसीलिए विश्वास की शिक्षा दी जाती है।

विचार व्यक्ति को मुक्त करता है, उसे व्यक्ति बनाता है। लेकिन शोषण के लिए तो भेड़ें चाहिए, भीड़ का अनुगमन करने वाले दुर्बल चित व्यक्ति चाहिए, इसी लिए विचार की हत्या की जाती है और विश्वास को पाला—पोसा जाता है।

मनुष्य असहाय है, इसीलिए असहायावस्था में, अकेलेपन में विश्वास के लिए तैयार हो जाता है।

जीवन दुख है इसीलिए दुख से पलायन के लिए किसी भी विश्वास और आस्था के प्रति शरणागत हो जाता है।

यह स्थिति शोषको के लिए, स्वार्थियों के लिए निश्चय ही स्वर्ण अवसर बन जाती है।

धर्म धूर्तों के हाथों में है, इसीलिए ही तो जगत् में अधर्म है।

धर्म की जब तक विश्वास से मुक्ति नहीं होगी, तब तक वास्तविक धर्म का जन्म नहीं हो सकता है।

धर्म जब विवेक की अग्नि से संयुक्त होता है, तो ही उससे स्वतंत्रता, सत्य और शक्ति का उद्भव होता है। धर्म शक्ति है क्योंकि विचार शक्ति है। धर्म प्रकाश है क्योंकि प्रज्ञा प्रकाश है। धर्म मुक्ति है क्योंकि विवेक मुक्ति है।

८

धर्म, धर्म, धर्म। धर्म का कितना विचार चलता है लेकिन परिणाम क्या है?

मैं जिसे सुनता हूं वही शास्त्र – वचन उद्धृत करता है, लेकिन परिणाम क्या है?

मनुष्य निरन्तर दुख और पीड़ा में डूबता जा रहा है, और हम हैं कि अपने सीखे हुए सिद्धान्त दुहराये जा रहे हैं।

जीवन प्रतिक्षण पशुता की ओर झुकता जाता है और हम हैं कि पत्थरों के पुराने मंदिरों में सदा की भांति सिर झुकाये जा रहे हैं।

शब्द—— मृत शब्दों में हम इतने घिरे हैं कि शायद सत्य को देखने की क्षमता ही हमने खो दी है।

शास्त्रों से चित्त हमारा इतना आबद्ध है कि स्वयं अनुसंधान में जाने का सवाल ही नहीं उठता है।

और, शायद इसीलिए विचार और आचार के बीच अलंघ्य खाई खुद गई है।

और, शायद इसीलिए जो हम कहते हैं कि हम चाहते हैं, ठीक उसके विपरीत ही हम जिये जाते हैं।

और, आश्चर्य तो यह है कि यह विरोधाभास हमें दिखाई भी नहीं पड़ता

है ! आंखें होते हुए भी क्या हम अंधे नहीं हो गये हैं ?

मैं इस जीवनस्थिति पर सोचता हूं तो दिखाई पड़ता है कि जो सत्य स्वयं ही उपलब्ध न किये हों, वे ऐसी ही उलझन में ले जाते हैं।

सत्य स्वयं से आये तो मुक्त करता है और स्वयं से न आये तो और भी गहरे बंधनों में बांध देता है। सिखाये हुए सत्यों से अधिक असत्य और कुछ भी नहीं होता है।

और, ऐसे उधार सत्य जीवन में अत्यन्त पीड़ादायी स्व–विरोध पैदा करते हैं।

एक पहाड़ी सरांय में एक पाला हुआ तोता था। उसके मालिक ने जो उसे सिखाया था, वह उसी को दिन रात दुहराया करता था। वह कहा करता था : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" एक यात्री उस सराय में पहली बार ठहरा था। उस तोते की वेदनाभरी वाणी उसके मर्म को छू लेती थी। वह भी अपने देश की स्वतंत्रता के युद्ध में अनेक बार कैद में रह चुका था। और वह तोता जब उस पहाड़ी के सन्नाटे को तोड़कर कहता : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" तो उसके हृदय के तार झनझना उठते थे। उसे अपने कैद के दिनों की स्मृति हो आती और स्मरण हो आता कि ऐसे ही तो उसकी अंतरात्मा भी चिल्लाती थी : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" रात्रि हो गई तो वह यात्री उठा और उसने स्वतंत्रता के आकांक्षी उस तोते को उसकी कैद से मुक्त करना चाहा। यात्री तोते को उसके पिंजडे के बाहर खींचता था लेकिन तोता निकलने को राजी नहीं होता था। और विपरीत अपने सींकचों को पकड़कर वह चिल्लाता था। "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" बड़ी मुश्किल से वह यात्री तोते को बाहर निकाल पाया। उसे आकाश में उड़ाकर वह निश्चित सा हो गया लेकिन सुबह उठकर ही उसने देखा कि तोता अपने पिंजडे में आनन्द से बैठा है और चिल्ला रहा है : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता !"

९

एक घटना मैंने सुनी है। युद्ध के दिन थे और अचानक बमबारी शुरू हो गई थी। किसी निर्जन रास्ते पर एक धर्म पुरोहित कहीं जा रहा था। उसन जल्दी से भागकर पास में ही बनी लोमड़ियों की एक गुफा में शरण ली। जैसे ही वह भीतर पहुंचा, उसने देखा कि एक सैनिक अफसर पहले से ही वहां

छिपा हुआ है। वह सैनिक अफसर एक कोने में हट गया ताकि नये आगुन्तक के लिए जगह हो सके। और तब पास में ही बम गिरने लगे। पुरोहित के हाथ पैर कंप रहे थे। उसने घुटने टेककर परमात्मा से प्रार्थना शुरू कर दी। वह बहुत जोर – जोर से प्रार्थना कर रहा था। उसने बीच में आँख उठाकर देखा तो पाया कि वह सैनिक अफसर भी उसी की भांति जोर-जोर से प्रार्थना कर रहा है। फिर जब आक्रमण बंद हो गया तो धर्म पुरोहित ने उस सैनिक अफसर से पूछा : "बंधु, मैंने देखा कि आप भी प्रार्थना कर रहे थे ? वह सैनिक अफसर हंसने लगा और बोला : " महानुभाव, लोमड़ियों की गुफाओं में नास्तिक कहां ?"

क्या तुम भी तो भय के कारण ही भगवान की खोज नहीं कर रहे हो? क्या तुम्हारी प्रार्थनाएं भी तो भय पर ही आधारित नहीं हैं ?

स्मरण रहे कि भय पर प्रतिष्ठित धर्म सत्य धर्म नहीं है।

मैं भयभीत आस्तिक की बजाय भयशून्य नास्तिक को ही पसंद करता हूँ क्योंकि भय से भगवान तक पहुंचना असंभव है।

सत्य को पाने की पहली शर्त तो अभय है।

और विचार तो करो : क्या भय कभी प्रेम बन सकता है ? और यदि भय प्रेम नहीं बनता तो प्रार्थना कैसे बनेगा ?

प्रार्थना तो प्रेम की ही पूर्णता है।

किन्तु, मनुष्य के द्वारा बनाये गये सभी मंदिरों की बुनियादों में भय की ईंटे हैं और मनुष्य के द्वारा गढ़ा हुआ भगवान भय की भावनाओं से ही निर्मित है।

इसीलिए ही तो हमारा सभी कुछ असत्य हो गया है। क्योंकि जिनका भगवान ही सत्य नहीं है, उनका और क्या सत्य हो सकता है ?

और जिनका प्रेम असत्य है, जिनकी प्रार्थना असत्य है, यदि उनके प्राण ही असत्य हो गये हों तो आश्चर्य कैसा ?

प्रेम से ——— केवल प्रेम से ही प्रार्थना सत्य होती है।

और ज्ञान से ——— केवल ज्ञान से ही उसे जाना जाता है जो कि वस्तुतः है।

मैं कहता हूं प्रेम करो और प्रेम की प्रगाढ़ता ही जीवन को प्रार्थना में परिणत कर देती है। और मैं कहता हूं स्वयं की प्रज्ञा को जगाओ, क्योंकि उसका जागरण ही परमात्मा का दर्शन है।

प्रेम और प्रज्ञा——— जो इन दो बीज मंत्रों को समझ लेता है, वह, वह

सब समझ जाता है जो कि समझना चाहिए और जो कि समझने योग्य है और जो कि समझा जा सकता है।

परमात्मा का मंदिर कहां हैं? जब कोई मुझसे यह पूछता है तो मैं कहता हूँ: प्रेम में और प्रज्ञा में।

निश्चय ही, प्रेम परमात्मा है, प्रज्ञा परमात्मा है।

१०

मित्रो! मैं क्या सिखाता हूं? एक छोटासा राज मैं सिखाता हूं। संसार में सम्राट बनने का राज मैं सिखाता हूं।

और इस छोटे से राज से बड़ा राज क्या हो सकता है?

लेकिन, शायद तुम कहो कि संसार में सभी सम्राट कैसे हो सकते हैं? मैं कहता हूँ: हो सकते हैं। एक ऐसा साम्राज्य भी है, जहां सभी सम्राट हो सकते हैं!

लेकिन जिस संसार को हम जानते हैं वहां तो सभी गुलाम हैं। वहां तो वे भी गुलाम हैं, जो कि स्वयं को सम्राट समझने के भ्रम में हैं?

एक जगत् मनुष्य के बाहर है। एक जगत् मनुष्य के भीतर भी है। बाहर के जगत् में कोई कभी सम्राट नहीं हो सका। हालाकि अधिकतम लोगों ने उसके लिए ही संघर्ष किया है।

शायद तुम भी उसी संघर्ष मे हो? उसी प्रतियोगिता में? तुम्हारी दौड़ भी शायद उसी के लिए है?

लेकिन जिसे सम्राट होना हो, उसे संसार को नहीं, स्वयं को ही जीतना पड़ता है।

क्राइस्ट ने कहा है: "परमात्मा का साम्राज्य तुम्हारे भीतर है।"

क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि जिन्होंने बाहर के राज्य को जीता उन्होंने स्वयं को खो दिया? और जो स्वयं को ही खो दे, वह सम्राट कैसे होगा? सम्राट होने के लिए कम से कम स्वयं होना तो अनिवार्य ही है।

नहीं। नहीं। बाहर का द्वार और भी दरिद्रता में ले जाता है। उस जगत् में जो सम्राट बने दीखते हैं, वे अपने गुलामों के भी गुलाम होते हैं।

और, वासनायें, तृष्णायें, कामनाएं मुक्त नहीं करती वरन् सूक्ष्म से सूक्ष्म और सख्त से सख्त बंधनों में बांध देती हैं।

वासना की जंजीरों से सुदृढ़ जंजीरें न तो अब तक बन सकीं हैं और न आगे ही बन सकती हैं। असल में इतना मजबूत फौलाद कोई और होता ही नहीं। इन अदृश्य जंजीरों से बंधा व्यक्ति सम्राट कैसे हो सकता है?

एक सम्राट था : प्रुसिया का फ्रेड्रिक महान्। एक संध्या राजधानी के बाहर एक बूढ़े आदमी का उसे धक्का लग गया। संकरी पगडंडी थी और सांझ का अंधेरा भी घिर रहा था। फ्रेड्रिक ने क्रोध से उस बूढ़े से पूछा: "आप कौन हैं?" उस वृद्ध ने कहा "एक सम्राट"। फ्रेड्रिक ने साश्चर्य कहा "सम्राट?" और फिर मजाक में पूछा : "किस देश पर आपका राज्य है?" "उस बूढ़े ने कहा "स्वयं पर।"

निश्चय ही जिनका स्वयं पर राज्य है, वे ही सम्राट हैं।

११

मैं एक महानगरी में था। वहाँ कुछ युवक मिलने आये। वे पूछने लगे : "क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?" मैंने कहा : "नहीं। विश्वास का और ईश्वर से क्या संबंध? मैं तो ईश्वर को जानता हूं।"

फिर मैंने उनसे एक कहानी कही।

किसी देश में क्रांति हो गई थी। वहां के क्रांतिकारी सभी कुछ बदलने में लगे थे। धर्म को भी वे नष्ट करने पर उतारू थे। उसी सिलसिले में एक वृद्ध फकीर को पकड़कर अदालत में लाया गया। उस फकीर से उन्होंने पूछा : "ईश्वर में क्यों विश्वास करते हो?" वह फकीर बोला : "नहीं। महानुभाव, विश्वास मैं नहीं करता। लेकिन, ईश्वर है। अब मैं क्या करूं?" उन्होंने पूछा : "यह तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ कि ईश्वर है?" वह बूढा बोला : "आंखें खोलकर जबसे देखा तबसे उसके अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है।"

उस फकीर के प्रत्युत्तरों ने अग्नि में घृत का काम किया। वे क्रांतिकारी बहुत क्रुद्ध हो गये और बोले : "शीघ्र ही हम तुम्हारे सारे साधु-साध्वियों को मार डालेंगे? फिर?"

वह बूढा हंसा और बोला "जैसी ईश्वर की मर्जी!"

जल्दी ही हम तुम्हारे सारे मंदिरों को मिट्टी में मिला देंगे? फिर?" वह बूढा पुनः हंसा और बोला : "जैसी ईश्वर की मर्जी!"

"लेकिन, हमने तो धर्म के सारे चिह्नों को ही मिटा डालने का निश्चय

किया है। ईश्वर का कोई भी चिन्ह संसार में हम न छोड़ेंगे?"

वह बूढा बोला: बेटे! यह बडा ही कठिन काम तुमने चुना है लेकिन ईश्वर की जैसी मर्जी। सब चिह्न कैसे मिटाओगे। जो भी शेष होगा, वही उसकी खबर देगा। और कम से कम तुम तो शेष रहोगे ही तो तुम्हीं उसकी खबर दोगे। ईश्वर को मिटाना असंभव है क्योंकि ईश्वर तो समग्रता है।"

ईश्वर को एक व्यक्ति की भांति सोचने से ही सारी भ्रांतियाँ खड़ी हो गई हैं।

ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं। वह तो जो है, वही है।

और ईश्वर में विश्वास करने के विचार से भी बड़ी भूल हो गई है।

प्रकाश में विश्वास करने का क्या अर्थ? उसे तो आंखें खोलकर ही जाना जा सकता है।

विश्वास अज्ञान का समर्थक है और अज्ञान एकमात्र पाप है।

आंखों पर पट्टियां बंधा विश्वास नहीं, वरन् पूर्णरूपेण खुली हुई आंखोंवाला विश्वास ही मनुष्य को सत्य तक ले जाता है।

और सत्य ही परमात्मा है। सत्य के अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है।

१२

एक दिन मैं सुबह सुबह उठकर बैठा ही था कि कुछ लोग आ गये। उन्होंने मुझसे कहा: "आपके संबंध में कुछ व्यक्ति बहुत आलोचना करते हैं। कोई कहता है, आप नास्तिक हैं। कोई कहता है अधार्मिक। आप इन सब व्यर्थकी बातों का उत्तर क्यों नहीं देते?" मैंने कहा: "जो बात व्यर्थ है, उसका उत्तर देने का सवाल ही कहां? क्या उत्तर देने योग्य मानकर हम स्वयं ही उसे सार्थक नहीं मान लेते हैं?" यह सुनकर उनमें से एक ने कहा: "लेकिन लोक में गलत बातें चलने देना भी तो ठीक नहीं?" मैंने कहा: "ठीक कहते हैं। लेकिन जिन्हें आलोचना ही करनी है, निंदा ही करनी है, उन्हें रोकना कभी भी संभव नहीं हुआ हे। वे बड़े आविष्कारक होते हैं और सदा ही नये मार्ग निकाल लेते हैं। इस संबंध में मैं आपको एक कथा सुनाता हूं।" और जो कथा मैंने उनसे कही थी, वही मैं आपको भी कहता हूं।

पूर्णिमा की रात्रि थी। और शुभ्र ज्योत्सना म सारी पृथ्वी डूबी हुई थी। शंकर और पार्वती अपने प्यारे नंदी पर सवार होकर भ्रमण को निकले थे।

किन्तु वे जैसे ही थोडे आगे गये कि कुछ लोग उन्हें मार्ग में मिले। उन्हें नंदी पर बैठे देखकर उन लोगों ने कहा : "देखो बेशर्मों को। बैल की जान में जान नहीं है और दो दो उसपर चढ़कर बैठे हैं।" उनकी यह बात सुनी तो पार्वती नीचे उतर गई और पैदल चलने लगीं। किंतु थोडी ही दूर जाने पर फिर कुछ लोग मिले। वे बोले : "अरे, मजा तो देखो! सुकुमार अबला को पैदल चलाकर यह कौन बैल पर बैठा चला जा रहा है भाई ? बेशर्मी की भी हद है!" यह सुनकर शंकर नीचे उतर आये और पार्वती को नंदी पर बैठा दिया। लेकिन कुछ ही कदम गये होंगे कि फिर कुछ लोगों ने कहा :। "कैसी बेहया औरत है ? पति को पैदल चलाकर खुद बैल पर बैठी है! मित्रों, कलियुग आ गया है!" ऐसी स्थिति देख आखिर दोनों ही नंदी के साथ पैदल चलने लगे। किंतु थोड़ी सी दूर न जाने पाये होंगे कि कुछ लोगों ने कहा : "देखो मूर्खों को। इतना तगडा बैल साथ में है और ये पैदल चल रहे हैं!" अब तो बड़ी कठिनाई हो गई। शंकर पार्वती को कुछ भी करने को शेष न रहा। नंदी को एक वृक्ष के नीचे रोक वे विचार करने लगे। अब तक नंदी चुप था। अब वह हंसा और बोला : "एक रास्ता मैं बताऊ? अब आप दोनों मुझे अपने सिरों पर उठा लीजिये!" यह सुनते ही शंकर पार्वती को होश आया और वे दोनों फिर नंदी पर सवार हो गये। लोग फिर भी कुछ न कुछ कहते निकलते रहे। असल में लोग बिना कुछ कहे निकल भी कैसे सकते हैं? लेकिन अब शंकर पार्वती चांदनी की सैर का आनन्द लूट रहे थे और भूल गये थे कि मार्ग पर कोई और भी निकल रहा है।

जीवन में यदि कहीं पहुंचना हो तो राह में मिलनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की बात पर ध्यान देना आत्मघातक है।

वस्तुतः, जिस व्यक्ति की सलाह का कोई मूल्य है, वह कभी बिना मांगे सलाह देता ही नहीं है।

और यह भी स्मरण रहे कि जो स्वयं के विवेक से नहीं चलता है, उसकी गति हवा के झोकों में उड़ते सूख पत्तों की भांति हो जाती है–

१३

मैं मन के आमूल परिवर्तन का आग्रह करता हूं। शरीर के तल पर किसी भी परिवर्तन का कोई गहरा मूल्य नहीं मात्र आवरण की बदलाहट अपर्याप्त है

क्योंकि अंतस् की क्रांति के अभाव में वह आत्मवंचना से ज्यादा नहीं है।

लेकिन, जिनके चित में भी स्वयं को परिवर्तित करने का विचार उठता है, वे शीघ्र ही, हृदय को बिना बदले ही, वस्त्रों को बदलने में संलग्न हो जाते हैं। स्वयं को धोखा देने की यह अंतिम विधि है। इससे सावधान होना बहुत आवश्यक है। अन्यथा, संन्यास भी बाह्य घटना मात्र रह जाती है। संसार तो बाह्य है ही लेकिन संन्यास भी बाह्य ही हो तो जीवन बहुत ही अंधकारपूर्ण पथों पर भटक जाता है।

वासना का पथ तो अज्ञान है ही। किंतु यदि त्याग भी बाह्य हो, तो वह और भी अज्ञानपूर्ण मार्गों पर ले जाता है।

वस्तुतः चेतना का स्वयं से बाह्य होना ही अज्ञान और अंधकार है। फिर इससे कोई भेद नहीं पड़ता है कि वह बाह्यता संसार को लेकर है, या संन्यास को।

चित्त बाह्यता से घिरा हो, तो भोग भी उसे बाहर रखता है और त्याग भी।

और चित्त बाह्य से मुक्त हो, तो सहज ही स्वयं में आ जाता है।

बाह्य की सार्थकता का आभास संसार है।

और बाह्य की व्यर्थता का बोध संन्यास।

एक कथा मैंने सूनी है:

एक नगर में एक ही दिन दो मृत्यु हो गई थीं। बडी अजीब घटना हुई थी। एक योगी और एक वेश्या—दोनों एक ही दिन एक ही घड़ी में संसार से चल दिये थे। दोनों का आवास भी आमने-सामने ही था। दोनों जिये भी साथ ही साथ, और मरे भी। यह आश्चर्य तो नगर में था। एक और गहरा आश्चर्य भी था। वह तो योगी और वेश्या को छोड़ और किसी को ज्ञात नहीं है। जैसे ही उनकी मृत्यु हुई वैसे ही उन्हें ले जाने के लिए ऊपर से दूत आये। लेकिन वे दूत वेश्या को लेकर स्वर्ग की ओर चले और योगी को लेकर नर्क की ओर। योगी ने कहा: "मित्रो, निश्चय ही कुछ भूल हो गई है! वेश्या को स्वर्ग की ओर लिए जाते हो और मुझे नर्क की ओर? यह कैसा अन्याय है-यह कैसा अंधेर है?" उन दूतों ने कहा: "नहीं। महानुभाव, न भूल है, न अन्याय, न अंधेर। कृपाकर थोड़ा नीचे देखें।" योगीने नीचे देखा। धरती की ओर देखा। वहां उसके शरीर को फूलों से सजाया गया था और उसका विशाल जुलूस निकाला जा रहा था। हजारो-हजारों लोग रामधुन गाते हुए,

उसके शरीर को श्मशान की ओर ले जा रहे थे। वहां उसके लिए चंदन की चिता तैयार थी। और दूसरी ओर सड़क के किनारे वेश्या की लाश पडी थी। उसे कोई उठाने वाला भी नहीं था, इसीलिये गीध और कुत्ते उसे फाड़फाड़कर खा रहे थे।

यह देख वह योगी बोला: "धरती के लोग ही ज्यादा न्याय कर रहे हैं।"

उन दूतों ने उत्तर दिया: "क्योंकि धरती के लोग केवल वही जानते हैं, जो बाहर था। शरीर से ज्यादा गहरी उनकी पहुंच नहीं। किंतु असली सवाल तो शरीर का नहीं मन का है। शरीर से तुम संन्यासी थे किंतु मन में तुम्हारे क्या था? क्या सदा ही तुम्हारा मन वेश्या में अनुरक्त नहीं था? क्या सदैव ही तुम्हारे मन में यह वासना नहीं जागती रही कि उधर वेश्या के घर में कैसा सुंदर संगीत और नृत्य चल रहा है, वहां बड़ा आनन्द आता होगा? और मेरा जीवन कैसा नीरस है? और उधर वह वेश्या थी। वह निरन्तर ही सोचती थी कि योगी का जीवन कैसा आनन्दपूर्ण है? रात्रि को जब तुम भजन गाते थे तो वह भाव विभोर हो रोती थी। इधर संन्यासी के अहंकार से तुम भरते जा रहे थे। उधर पाप की पीड़ा से वह विनम्र होती जाती थी। तुम अपने तथाकथित ज्ञान के कारण कठोर होते गये। और वह अपने अज्ञान के बोध के कारण सरल। अंततः तुम्हारा अहंकार ग्रस्त व्यक्तित्व बचा और उसका अहंशून्य। मृत्यु के क्षण में तुम्हारे चित्त में अहंकार था, वासना थी। उसके चित्त में न अहंकार था, न वासना। उसका चित्त तो परमात्मा के प्रकाश और प्रेम और प्रार्थना से परिपूर्ण था।"

जीवन का सत्य बाह्य आवरण में नहीं है। फिर बाह्य के परिवर्तन से क्या होगा?

सत्य है बहुत आंतरिक—आत्यंतिकरूप से आंतरिक। उसे जानने और पाने के लिए व्यक्तित्व की परिधि पर नहीं, केंद्र पर श्रम करना होता है। उस केंद्र को खोजने से वह निश्चय ही मिलता है, क्योंकि वह स्वयं में ही तो छिपा है।

धर्म परिधि का परिवर्तन नहीं, अंतस् की क्रांति है।

धर्म परिधि पर अभिनय नहीं, केंद्र पर श्रम है।

धर्म श्रम है, स्वयं पर। उस श्रम से ही स्व मिटता और सत्य उपलब्ध होता है।

१४

अहंकार हृदय को पाषाण बना देता है। जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुन्दर है, वह उस सबकी मृत्यु है। इसीलिए ही अहंकार के अतिरिक्त परमात्मा के मार्ग में और कोई बाधा नहीं। क्योंकि पाषाण हृदय प्रेम को कैसे जानेगा? और जहां प्रेम नहीं, वहां परमात्मा कहां? प्रेम के लिए तो सरल और विनम्र हृदय चाहिए—सरल और संवेदनाशील। और अहंकार जितना प्रगाढ़ होता है, उतना ही हृदय अपनी सरलता और संवेदनशीलता खो देता है।

"धर्म क्या है?" जब कोई मुझसे पूछता है तो मैं कहता हूं: "हृदय की सरलता—हृदय की संवेदनशीलता।"

लेकिन, धर्म के नाम से जो कुछ प्रचलित है, वह तो अहंकार के ही बहुत से सूक्ष्म और जटिल रूपों का अभिव्यक्ति है।

अहँकार समस्त हिंसा का मूल है।

"मैं हूं"—यह भाव ही हिंसा है। फिर "मैं कुछ हूं" यह तो अतिहिंसा है।

सत्य को, सौंदर्य को हिंसक चित्त नहीं पा सकता है। क्योंकि, हिंसा स्वयं को कठोर कर देती है। कठोरता का अर्थ है, स्वयं के द्वारों का बंद हो जाना। और जो स्वयं में बंद है, वह सर्व से कैसे संबंधित हो सकता है?

एक फकीर था: हसन। बहुत दिन का भूखा। वह एक गांव के बाहर आकर ठहरा था। उसके कुछ साथी भी साथ थे। वे भी लम्बी यात्रा से थके-मांदे और भूखे प्यासे थे। और वे जाकर जैसे ही उस खंडहर में ठहरे थे कि एक अपरिचित व्यक्ति बहुतसा भोजन और फल लेकर आया और बोला: "यह क्षुद्र सी भेंट उनके लिए जो कि तपस्वी हैं और संन्यासी हैं।" उस व्यक्ति के चले जाने के बाद हसन ने अपने साथियों से कहा: "मित्रो, मुझे आज की रात्री भी भूखा ही सोना होगा क्योंकि मैं कहां हूं तपस्वी, कहां हूं संन्यासी? असल में मैं ही कहां हूं?"

"मैं नहीं हूं"—इसे जो जान लेते हैं, वे परमात्मा को जान लेते हैं।

"मैं नहीं हूं"—इसे जो पा लेते हैं, वे परमात्मा को पा लेते हैं।

१५

एक दिन स्वर्ग के द्वार पर बड़ी भीड़ थी। कुछ पंडित चिल्ला रहे थे: "जल्दी द्वार खोलो।" लेकिन द्वारपालों ने उनसे कहा "थोड़ा ठहरिये। हम आपके

संबंध में पता लगा लें कि जो ज्ञान आपने पाया ,वह शास्त्रों से पाया था या स्वयं से। क्योंकि, शास्त्रों से पाये हुए ज्ञान का यहां कोई मूल्य नहीं है।"

इतने में ही एक संन्यासी भीड़ के आगे आया और बोला: "द्वार खोलो। मैं स्वर्ग में प्रवेश पाना चाहता हूं। मैंने बहुत उपवास किये और शरीर के कष्ट सहे। मेरे समय में मुझसे बड़ा और कौन तपस्वी था?"

द्वारपालों ने कहा: "स्वामी जी, थोड़ा ठहरिये। हम पता लगा लें कि तपश्चर्या आपने क्यों की थी? क्योंकि जहाँ कुछ भी पाने की आकांक्षा है, वहां न त्याग है, न तप है।"

और तभी जनता के कुछ सेवक आ गये। वे भी स्वर्ग में प्रवेश चाहते थे।

द्वारपालों ने उनसे कहा: "आप भी बड़ी भूल में पड़ गये हैं। जो सेवा पुरस्कार मांगती है, वह सेवा ही नहीं है। फिर भी हम आपके संबंध में पता लगाये लेते हैं।

और तभी द्वारपालों की दृष्टि सबसे पीछे अंधेरे में खड़े एक व्यक्ति पर गई। उन्होंने भीड़ से उस व्यक्ति को आगे आने देने के लिए मार्ग देने को कहा। उस व्यक्ति की आंखों से आंसु गिर रहे थे। उसने कहा।" निश्चय ही भूल से मुझे यहां ले आया गया है। कहां मैं? और कहां स्वर्ग? मैं हूं निपट अज्ञानी। शास्त्रों को बिल्कुल नहीं जानता हूं। सन्यास से बिल्कुल अपरिचित हूं क्योंकि मेरा कुछ था ही नहीं तो मैं त्याग क्या करता? और, सेवा? सेवा मैंने कभीं नहीं की। उतनी मेरी सामर्थ्य ही कहां? प्रेम जरूर मेरे हृदय से बहता था। लेकिन प्रेम तो स्वर्ग प्रवेश की कोई योग्यता नहीं है? फिर मैं स्वयं भी स्वर्ग में प्रवेश नहीं करना चाहता हूं। कृपा करें और बतावें कि नर्क का द्वार कहां है। शायद, वहीं मेरा स्थान भी है और वहीं मेरी आवश्यकता है।"

उसके यह कहते ही द्वारपालों ने स्वर्ग के द्वार खोल दिये और कहा : "मर्त्यों में आप धन्य हैं। आपने अमृत्व की उपलब्धि करली। स्वर्ग के द्वार आपके लिए सदा ही खुले हैं। आपका स्वागत है।"

क्या जीवन में अंतिम होना ही परमात्मा की प्रार्थना नहीं है?

और क्या जीवन में अंतिम होना ही मोक्ष नहीं है?

प्रभात के स्वर

(प्रभातकालीन चर्चाओं से)

संकलन : सौ. रमा, बी. एस. सी.

१. "मैं कौन हूं ?"

एक रात्रि की बात है, पूर्णिमा थी, मैं नदी तट पर था, अकेला आकाश को देखता था। दूर दूर तक सन्नाटा था कि फिर किसी के पैरों की आहट पीछे सुनाई पड़ी। लौटकर देखा, एक युवा साधु खड़े थे। उनसे बैठने को कहा। बैठे तो देखा कि वे रो रहे हैं, आंखों से झर झर आंसू गिर रहे हैं। उन्हें मैंने निकट ले लिया। थोड़ी देर तक उनके कंधे पर हाथ रखे मैं मौन बैठा रहा। न कुछ कहने को था, न कहने की स्थिति ही थी, किन्तु प्रेम से भरे मौन ने उन्हें आश्वस्त किया। ऐसे कितना समय बीता कुछ याद नहीं। फिर अंततः उन्होंने कहा: "मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूं। कहिये, क्या ईश्वर है? या कि मैं मृगतृष्णा में पड़ा हूं?"

मैं क्या कहता ? उन्हें और निकट ले लिया। प्रेम के अतिरिक्त तो किसी और परमात्मा को मैं जानता नहीं हूं।

प्रेम को न खोजकर जो परमात्मा को खोजता है, वह भूल में ही पड जाता है।

प्रेम के मन्दिर को छोड़कर जो किसी और मन्दिर की खोज में जाता है, वह परमात्मा से और दूर ही निकल जाता है।

किंतु, यह सब तो मेरे मन में था. वैसे मुझे चुप देख उन्होंने फिर कहा:

'कहिये—कुछ तो कहिये? मैं बडी आशा से आपके पास आया हूं। क्या आप मुझे ईश्वर के दर्शन नहीं करा सकते?

फिर भी मैं क्या कहता? उन्हें और निकट लेकर उनकी आंसुओं से भरी आंखें चूमली। उन आंसुओं में बडी आकांक्षा थी, बडी अभीप्सा थी। निश्चय ही वे आंखें परमात्मा के दर्शन के लिये बड़ी आकुल थीं. लेकिन, परमात्मा क्या बाहर है कि उसके दर्शन किये जा सकें? परमात्मा इतना भी तो पराया नहीं है कि उसे देखा जा सके? अंततः मैंने उनसे कहा: जो तुम मुझसे पूछते हो, वही किसी ने श्री रमण से पूछा था। श्री रमण ने कहा था: "ईश्वर के दर्शन? नहीं, नहीं, दर्शन नहीं हो सकते लेकिन चाहो तो स्वयं ईश्वर अवश्य हो सकते हो. यही मैं तुमसे कहता। हूं। ईश्वर को पाने और जानने की खोज बिल्कुल ही अर्थहीन है। जिसे खोया ही नहीं है, उसे पाओगे कैसे? और जो तुम स्वयं ही हो, उसे जानोगे कैसे? वस्तुतः जिसे हम देख सकते है, वह हमारा स्वरूप नहीं हो सकता। दृश्य बन जाने के कारण ही वह हमसे बाहर और पर हो जाता है। परमात्मा है हमारा स्वरूप और इसलिए उसका दर्शन असंभव है। मित्र, परमात्मा के नाम से जो दर्शन होते है, वे हमारी ही कल्पनायें हैं। मनुष्य का मन किसी भी कल्पना को आकार देने में समर्थ है। किंतु इन कल्पनाओं में खो जाना सत्य से भटक जाना है."

यह घटना मुझे अनायास याद हो आई है क्योंकि आप भी तो ईश्वर के दर्शन करना चाहते हैं? और उसी संबंध में कुछ कहूं इसलिये ही आप यहां एकत्रित हुये हैं।

मैं स्वयं भी ऐसे ही खो जाता था। फिर खोजते-खोजते खोज की व्यर्थता ज्ञात हुई। ज्ञात हुआ कि जो खोज रहा है, जब मैं उसे ही नहीं जानता हूं तो इस अज्ञान में डूबे रहकर सत्य को कैसे जान सकूंगा?

सत्य को जानने के पूर्व स्वयं को जानना तो अनिवार्य ही है।

और स्वयं को जानते ही जाना जाता है कि, अब कुछ और जानने को शेष नहीं है।

आत्मज्ञान की कुंजी के पाते ही सत्य का ताला खुल जाता है।

सत्य तो सब जगह है। समग्र सत्ता में वही है। किंतु उस तक पहुंचने का निकटतम मार्ग स्वयं में ही हैं। स्वयं की सत्ता ही चूंकि के सर्वाधिक निकट है, इसलिये उसमें खोजने से ही खोज होनी संभव है।

और जो स्वयं में ही खोजने में असमर्थ है, वह निकट ही नहीं खोज

पाता तो दूर कैसे खोज पायेगा? दूर की खोज का विचार निकट की खोज से बचने का उपाय भी हो सकता है।

संसार की खोज चलती है ताकि स्वयं से बचा जा सके और फिर ईश्वर की खोज चलने लगती है। क्या स्वयं के अतिरिक्त शेष सब खोजें स्वयं से पलायन की ही विधियां नहीं है?

भीतर देखें? वहां क्या दीखता है? अंधकार, अकेलापन, रिक्तता? क्या इस अंधकार, इस अकेलेपन, इस रिक्तता से भागकर ही हम कहीं शरण लेने को नहीं भागते रहते हैं? किन्तु इस भांति के भगोडेपन से दुख के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लगता है। स्वयं से भागे हुये के लिये विफलता ही भाग्य है। क्योंकि जो खोज स्वयं से पलायन है, वह कहीं भी नहीं ले जा सकती है।

और दो ही विकल्प हैं: स्वयं से भागो या स्वयं में जागो। भागने के लिये बाहर लक्ष्य चाहिये, और जागने के लिये बाहर के सभी लक्ष्यों की सार्थकता का भ्रमभंग।

ईश्वर जब तक बाहर है, तब तक वह भी संसार है — वह भी माया है——— वह भी मूर्च्छा है। उसका आविष्कार भी मनुष्य ने स्वयं से बचने और भागने के लिये ही किया है।

मित्र, इसलिये पहली बात तो मुझे यही कहनी है कि ईश्वर, सत्य, निर्वाण, मोक्ष———यह सब न खोजें। खोजें उसे जो सब खोज रहा है। उसकी खोज ही अंततः ईश्वर की, सत्य की और निर्वाण की खोज सिद्ध होती है।

आत्मानुसंधान के अतिरिक्त और कोई खोज धार्मिक खोज नहीं है।

लेकिन, 'आत्म ज्ञान', 'आत्मदर्शन' आदि शब्द बडे भ्रामक हैं। क्योंकि, स्वयं का ज्ञान कैसे हो सकता है? ज्ञान के लिये द्वैत चाहिये——— दुई चाहिये। जहां दो नहीं हैं, वहां ज्ञान कैसे होगा? दर्शन कैसे होगा? साक्षात कैसे होगा? वस्तुतः, ज्ञान, दर्शनादि सभी शब्द द्वैत के जगत् के हैं। और जहां अद्वैत है, जहां एक ही है, वहां वे एकदम ही अर्थहीन हो जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। मेरे देखे, 'आत्मदर्शन' असंभावना है। वह शब्द ही असंगत है।

मैं भी कहता हूं: 'स्वयं को जानो।' सुकरात ने यही कहा है। बुद्ध ने, महावीर ने भी यही। क्राइस्ट ने, कृष्ण ने भी यही। फिर भी स्मरण रहे कि जो भी जाना जा सकता है, वह स्व कैसे होगा? वह तो पर ही हो सकता है? जानना तो पर का ही हो सकता है। स्व तो वह है जो जानता है। स्व अनि-

वार्यरुप से ज्ञाता है। उसे किसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। तो फिर उसका ज्ञान कैसे होगा ? ज्ञान तो ज्ञेय का होता है। ज्ञाता का ज्ञान कैसे होगा ? जहां ज्ञान है, वहां कोई ज्ञाता है, कुछ ज्ञेय है। वहां कुछ जाना जाता है और कोई जानता है। अब ज्ञाता को ही जानने की चेष्टा क्या आंख को उसी आंख से देखने के प्रयास की भांति नहीं है ? क्या कुत्तों को स्वयं अपनी ही पूंछ को पकड़ने की असफल चेष्टा करते आपने कभी देखा है ? वे जितनी तीव्रता से झपटते हैं, पूंछ उतनी ही शीघ्रता से हट जाती है। इस प्रयास में वे पागल भी हो जावें तो भी क्या उन्हें पूंछ की प्राप्ति हो सकती है ? किन्तु हो सकता है कि वे अपनी पूंछ पकड लें, लेकिन स्वयं को ज्ञेय बनाना तो संभव नहीं है।

मैं सबको जान सकता हूं लेकिन उसी भांति स्वयं को नहीं। शायद इसीलिये आत्मज्ञान जैसी सरल घटना कठिन और दुरुह बनी रहती है।

फिर, हम आत्मज्ञान का क्या अर्थ करें ? निश्चय ही वह वही ज्ञान नहीं है, जिससे कि हम परिचित हैं। वह ज्ञाता ज्ञेय का संबंध नहीं है। इसलिये चाहें तो उसे परम ज्ञान कहें क्योंकि फिर और कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता, या चाहें तो परम अज्ञान, क्योंकि वहां जानने को ही कुछ नहीं होता है।

पदार्थ ज्ञान विषय-विषयी का सम्बन्ध है, आत्मज्ञान विषय-विषयी का अभाव।

पदार्थ ज्ञान में ज्ञाता है, और ज्ञेय है, आत्म ज्ञान में न ज्ञेय है और न ज्ञाता। वहां तो मात्र ज्ञान है। वह शुद्ध ज्ञान है।

जगत् की सारी वस्तुयें ज्ञेय की भांति जानी जाती हैं। असल में जो ज्ञेय है, ज्ञेय बनती है, वही है वस्तु। जो जानता है, ज्ञाता है, वही है अवस्तु। ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध है——पदार्थ ज्ञान। किन्तु जहां न ज्ञेय है, न कोई ज्ञाता—— क्योंकि जहां ज्ञेय नहीं, वहां ज्ञाता कैसे होगा ?—— वहां जो शेष रह जाता है—— जो ज्ञान शेष रह जाता है, वही है आत्मज्ञान।

ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम ही है आत्मज्ञान।

और भी उचित है कि उसे ज्ञान ही कहें, क्योंकि वहां न कोई आत्म है और न अनात्म। बुद्ध ने ठीक ही किया कि उसे 'आत्मा' नहीं कहा। क्योंकि, उस शब्द में अहंता की ध्वनि है। और जहां तक अहंता है, वहां तक आत्मा कहां ?

इस ज्ञान को पाने की विधि क्या है—— मार्ग क्या है——द्वार क्या है ?

मैं एक घर में अतिथि था। उस घर में इतना सामान था कि हिलने डुलने की भी जगह न थी। घर तो बडा था, किन्तु सामान की अधिकता से बिल्कुल छोटा हो गया था। वस्तुतः तो सामान ही सामान था और घर था ही नहीं, क्योंकि घर तो दीवारों से घिरे रिक्त स्थान का ही नाम है! दीवारें नहीं, वह रिक्त स्थान ही गृह है क्योंकि दीवारों में नहीं, रहना तो उस रिक्त स्थान में ही होता है। रात्रि गृहपति ने मुझसे कहा: "घर में जगह बिल्कुल नहीं है, लेकिन जगह लायें भी कहां से?" उनकी बात सुन मैं हंसने लगा था। और फिर उनसे कहा था: रिक्त स्थान आपके घर में भी पर्याप्त है। वह यहीं है, और कहीं गया नहीं। केवल सामान से आपने उसे ढांक लिया है। कृपाकर सामान बाहर करें तो आप पायेंगे कि वह भीतर आ गया है। वह तो भीतर ही है। सामान के डर से दुबक गया है। सामान हटावें और वह अभी और यहीं है।

आत्मज्ञान की विधि भी यही है।

मैं तो निरंतर हूं। सोते जागते, उठते, बैठते, सुख में, दुख में,—मैं तो हूं ही। ज्ञान हो, अज्ञान हो, मैं तो हूं ही। मेरा यह होना असंदिग्ध है। और सब पर संदेह किया जा सके, लेकिन स्वयं पर तो संदेह नहीं किया जा सकता है। जैसा कि देकार्त ने कहा है: "संदेह भी करुं तो भी मैं हूं, क्योंकि संदेह भी उसके बिना कौन करेगा?"

लेकिन, यह 'मैं' कौन हूं? यह 'मैं' क्या है? कैसे इसे जानूं? हूं सो तो ठीक, लेकिन, क्या हूं? कौन हूं?

मैं हूं, यह असंदिग्ध है। और क्या यह भी असंदिग्ध नहीं है कि मैं जानता हूं—— मुझमें ज्ञान है—— चेतना है—— दर्शन है?

यह हो सकता है कि जो जानूं, वह सत्य न हो, असत्य हो, स्वप्न हो, लेकिन मेरा जानना —— जानने की क्षमता तो सत्य है।

इन दो तथ्यों को देखें—— विचार करें। मेरा होना —— मेरा अस्तित्व और मेरी जानने की क्षमता —— मुझमें ज्ञान का होना। इन दोनों के आधार पर ही मार्ग खोजा जा सकता है।

मैं हूं, लेकिन ज्ञात नहीं कौन हूं? अब क्या करूं? ज्ञान की जो क्षमता है, ज्ञान की जो शक्ति है, उसमें झांकूं और खोजूं। इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प ही कहां है?

ज्ञान की शक्ति है, लेकिन वह ज्ञेय से—— विषयों से ढंकी है। एक

विषय हटता है, तो दूसरा आ जाता है। एक विचार जाता है तो दूसरे का आगमन हो जाता है। ज्ञान एक विषय से मुक्त होता है तो दूसरे से बंध जाता है, लेकिन रिक्त नहीं हो पाता। यदि ज्ञान विषय रिक्त हो तो क्या हो? क्या उस अंतराल में उस रिक्तता में, उस शून्यता में ज्ञान स्वयं में ही होने के कारण स्वयं की सत्ता का उद्‌घाटक नहीं बन जावेगा? क्या जब जानने को कोई विषय नहीं होगा तो ज्ञान स्वयं को ही नहीं जानेगा?

ज्ञान जहां विषय रिक्त है, वहीं वह स्वप्रतिष्ठ होता है।

ज्ञान जहां ज्ञेय से मुक्त है, वहीं वह शुद्ध है। और वह शुद्धता, शून्यता ही आत्मज्ञान है।

चेतना जहां निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है, वही स्वयं का साक्षात्कार है।

किन्तु, यहां इस साक्षात्कार में न तो कोई ज्ञाता है, न ज्ञेय है। यह अनुभूति अभूतपूर्व है। उसके लिये शब्द देना असंभव है। लाओत्से ने कहा है: "सत्य के संबंध में जो भी कहो, वह कहने से ही असत्य हो जाता है।"

फिर भी सत्य के संबंध में जितना कहा गया है, उतना किस संबंध में कहा गया है? अनिर्वचनीय उसे कहें, तो भी तो कुछ कहते ही हैं? उसके संबंध में मौन रहें तो भी तो कुछ कहते ही हैं?

ज्ञान है शब्दातीत। किन्तु प्रेम उसके आनन्द की, उसके आलोक की, उसकी मुक्ति की खबर देना चाहता है। फिर चाहे वे इंगित कितने ही अधूरे हों और कितने ही असफल वे इशारे हों। गूंगा भी गुड के संबंध में कुछ कहता है? वह चाहे कुछ भी न कह पाता हो लेकिन कहना चाहता है, यह तो कह ही देता है।

किन्तु, सत्य के सम्बन्ध में किये गये अधूरे इंगितों को पकड लेने से बड़ी भ्रांति हो जाती है।

आत्मज्ञान की खोज मे जो व्यक्ति आत्मा को एक ज्ञेय पदार्थ की भांति खोजने निकल पडता है, वह प्रथम चरण में ही गलत दिशा में चल पड़ता है।

आत्मा ज्ञेय नहीं है। और न ही उसे किसी आकांक्षा का लक्ष्य ही बनाया जा सकता है, क्योंकि वह विषय भी नहीं है।

वस्तुतः, उसे खोजा भी नहीं जा सकता क्योंकि वह खोजनेवाला का ही स्वरूप है। उस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। इसलिये, आत्मा को केवल वे ही खोज पाते हैं, जो सब खोज छोड़ देते हैं और वे ही जान पाते

हैं जो सब जानने से शून्य हो जाते हैं।

खोज को——— सब भांति की खोज को छोडते ही चेतना वहां पहुंच जाती है, जहां वह सदा से ही है।

दौड को——सब भांति की दौड को छोडते ही, चेतना वहां पहुंच जाती है, जहां वह सदैव से ही खडी हुई है।

समाधि के बाद तथागत बुद्ध से किसी ने पूछा : "समाधि से आपको क्या मिला ?" तो बुद्ध ने कहा था : "कुछ भी नहीं। खोया बहुत कुछ, पाया कुछ भी नहीं। वासना खोई, विचार खोये, सब भांति की दौड और तृष्णा खोई और पाया वह जो कि सदा से ही पाया हुआ है।"

मैं जिसे नहीं खो सकता हूं, वही तो है स्वरूप।

मैं जिसे नहीं खो सकता हूं, वही तो है परमात्मा।

और सत्य क्या है ? जो सदा है, सनातन है, वही तो है सत्य। इस सत्य को, इस स्वरुप को पाने के लिये चेतना से उस सबको खोना आवश्यक है जो कि सत्य नहीं है। जिसे खोया जा सकता है, उस सबको खोकर ही वह जान लिया जाता है, जो कि सत्य है। स्वप्न खोते ही सत्य उपलब्ध है।

मित्र, मैं पुनः दोहराता हूं : स्वप्न खोते ही सत्य उपलब्ध है। स्वप्न जहां नहीं हैं, तब जो शेष है, वही है स्व सत्ता, वही है सत्य, वही है स्वतंत्रता।

२. विचार के जन्म के लिए, विचारों से मुक्ति

विचार शक्ति के संबंध में आप जानना चाहते हैं ? निश्चय ही विचार से बडी और कोई शक्ति नहीं। विचार व्यक्तित्व का प्राण है। उसके केंद्र पर ही जीवन का प्रवाह घूमता है। और मनुष्य में वही सब प्रगट होता है, जिसके बीज वह विचार की भूमि में बोता है। विचार की सचेतनता ही मनुष्य को अन्य पशुओं से प्रथक भी करती है। लेकिन यह स्मरण रहे कि विचारों से घिरे होने और विचार की शक्ति में बडा भेद है। भेद ही नहीं, विरोध भी है। विचारों से जो जितना घिरा होता है, वह विचार करने में उतना ही असमर्थ और अशक्त हो जाता है। विचारों की भीड चित्त को अंततः विक्षिप्त करती है। विक्षिप्तता विचारों की अराजक भीड ही तो है। शायद इसीलिये जगत् में जितने विचार बढते जाते हैं, उतनी ही विक्षिप्तता भी अपनी जडें जमाती जाती है ! विचारों का आच्छादन विचार शक्ति को ढांक लेता है और निष्प्राण कर देता है। विचार की सहज स्फुर्णा विचारों के बोझ में निसत्व हो जाती है।

विचारों के बादल विचार शक्ति के निर्मल आकाश को धूमिल कर देते हैं। और जैसे वर्षा में आकाश में घिर आये बादलों को ही कोई आकाश समझ ले, ऐसी ही भूल विचारों को ही विचार शक्ति समझने में हो जाती है। फिर भी विचार की क्षमता और विचारों के संग्रह में ऐसी भूल सदा से ही होती आई है। मनुष्य के अज्ञान की आधारभूत शिलाओं में से एक भ्रांति यह भी है। विचारों का संग्रह विचार शक्ति का प्रमाण नहीं है। विपरीत, विचार शक्ति के अभाव को ही इस भांति विचारों से भरकर पूरा कर लिया जाता है। प्रसुप्त विचारणा को बिना जगाये ही विचार संग्रह विचारणा के होने का भ्रम देने लगता है। अज्ञान में ही ज्ञान की अहं पूर्ति का इससे आसान कोई मार्ग नहीं है। स्वयं में विचार की जितनी रिक्तता अनुभव होती है, उतना ही विचारों से उसे छिपा लेने की प्रवृत्ति होती है। विचार को जगाना तो बहुत श्रम साध्य है, किन्तु विचारों को जोड लेना बहुत सरल, क्योंकि विचार तो चारों ओर परिवेश में तैरते ही रहते हैं। समुद्र के किनारे जैसे सीप शंख इकट्ठा करने में कोई कठिनाई नहीं है, ऐसे ही संसार में विचार संग्रह अति सरल कार्य है। विचार शक्ति है स्वरूप, जबकि विचार हैं पराये। विचार शक्ति को स्वयं में खोजना होता है और विचारों को स्वयं के बाहर। एक के लिये अंतर्मुखता और दूसरे के लिये बहिर्मुखता के द्वारों से यात्रा करनी होती है। इसलिये ही मैंने कहा कि दोनों यात्रायें भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं। और जो उनमें से एक यात्रा पर जाता है, वह इस कारण ही दूसरी यात्रा पर नहीं जा सकता है।

विचार संग्रह की दौड में जो पडा है, उसे जानना चाहिये कि इस भांति वह स्वयं ही स्वयं की विचार शक्ति से दूर निकलता जाता है।

विचारों की भीड में व्यक्ति अंततः स्वयं अपने को और अपनी विचार शक्ति को खो देता है।

वस्तुतः, स्वयं से बाहर जो भी पाया जा सकता है, वह स्वरूप कभी नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान की खोज स्वयं से बाहर नहीं हो सकती है क्योंकि, जो ज्ञान स्वरुप नहीं है, वह ज्ञान ही नहीं है।

अज्ञान को ढांक लेने से न तो अज्ञान मिटता है और न ही ज्ञान की उपलब्धि ही होती है।

अज्ञान को ढांकने की बजाय तो उसे उसकी नग्नता में जानना ही उचित और हितकर है क्योंकि तब उसके बोध की पीडा ही उसके अतिक्रमण का अनुसन्धान बन जाती है।

क्या अज्ञान से भी घातक वह ज्ञान नहीं है, जिसकी ओट में कि अज्ञान छिप सकता है? निश्चय ही वह मित्र शत्रुओं से कहीं ज्यादा शत्रु है, जो शत्रुओं को छिपाने का कार्य करता है।

वह ज्ञान शत्रु है, जो स्वयं से ही नहीं जन्मता है। ऐसा ज्ञान ही मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्याज्ञान को पाने की आकांक्षा क्यों है? हम क्यों इस मृगतृष्णा में पडते हैं? इस मृगतृष्णा का भी कारण है। वस्तुतः अकारण तो इस जगत् में कुछ भी नहीं होता है।

अहंकार है कारण। अज्ञानी कोई भी नहीं दीखना चाहता है। अज्ञान से अहंकार को चोट लगती है और इसलिये ज्ञान की शीघ्र उपलब्धि की प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ होती है। ज्ञानी दीखने का सस्ता और सरल मार्ग है, दूसरे के विचारों को संग्रह कर लेना। इसीलिये तो लोग शास्त्रों को घोल घोल कर पी जाते हैं और शब्दों और सिद्धातों से स्वयं को आकंठ भर लेते हैं। अहंकार और पुष्ट हो जाता है और उसकी साज सज्जा खूब बढ जाती है। अहंकार तो वैसे ही घातक है, फिर ज्ञानी होने से वह और भी विषाक्त हो जाता है। कहावत है: 'करेला और वह भी नीम चढा।' तथाकथित ज्ञान अहंकार को नीम चढा करेला बना देता है।

अज्ञान का बोध विनम्रता लाता है और तथाकथित ज्ञान अहंकार को राजसिंहासन पर बैठ देता है। जबकि वास्तविक ज्ञान के लिये अहंकार का विलीन होना अनिवार्य है।

अहंकार का केन्द्र है, संग्रह। वह संग्रह पर ही जीता है क्योंकि आत्यंतिक रुप में वह संग्रह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसकी अपनी सत्ता नहीं है। उसकी सत्ता संग्रह की ही उप उत्पत्ति है। इसलिये, अहंकार संग्रह को गति देता है और असंग्रह की संभावना से ही भयभीत होता है। असंग्रह की अवस्था का अर्थ है, उसकी मृत्यु। इसलिये संग्रह और संग्रह और संग्रह—— ऐसी ही उसकी सतत पुकार बनी रहती है। 'और, और, और,'——— यही उसकी अभीप्सा है। इसलिये जब तक चित्त 'और की दौड' में होता है, तब तक स्वयं को नहीं जान पाता। दौड जानने के लिये अवकाश ही नहीं देती। फिर यह दौड धन की हो या धर्म की—पद की हो या यश की—ज्ञान की हो या त्याग की——— इससे कोई भेद नहीं पडता है। जहां दौड है वहां अहंकार है, जहां अहंकार है वहां अज्ञान है। विचार-संग्रह की दौड भी धन-संग्रह की दौड जैसी ही है। धन-संग्रह स्थूल धन-संग्रह है तो विचार-संग्रह सूक्ष्म धन-संग्रह। और

ध्यान रहे कि सभी संग्रह आंतरिक दरिद्रता के द्योतक होते हैं। भीतर की दरिद्रता का अनुभव ही बाहर के धन की तलाश में ले जाता है। और यहीं मूल भूल हो जाती है। पहला ही चरण गलत दिशा में पड जावे तो गन्तव्य के ठीक होने का तो सवाल ही नहीं उठता। दरिद्रता भीतर है और धन की खोज बाहर! अज्ञान भीतर है और ज्ञान की खोज बाहर! यह विसंगति ही सारे जीवन को रेत से तैल निकालने के अर्थहीन श्रम में नष्ट कर देती है। फिर यह हो भी सकता है कि रेत से तैल निकल आवे, लेकिन बाह्य समृद्धि आंतरिक दरिद्रता को कभी भी नष्ट नहीं कर सकती। उन दोनों में कोई संबंध ही नहीं। दरिद्रता भीतर है, तो ऐसी समृद्धि को खोजना होगा जो कि स्वयं भी भीतर की ही हो। अज्ञान आंतरिक है, आंतरिक रुप से आविर्भूत ज्ञान ही उसकी समाप्ति बन सकता है। मैं जो कह रहा हूं क्या वह 'दो और दो चार' की भांति ही सुस्पष्ट नहीं है? धन चाहते हैं या कि धनी दीखना चाहते हैं? ज्ञान चाहते हैं या कि अज्ञानी नहीं दीखना चाहते? सब भांति के संग्रह दूसरों को धोखा देने के उपाय हैं। लेकिन उस भांति स्वयं को धोखा नहीं दिया जा सकता है। यह सत्य दीखते ही दृष्टि में एक आमूल परिवर्तन शुरू हो जाता है।

अज्ञान सत्य है तो उससे भागें नहीं। पलायन से क्या होगा? शास्त्रों और शब्दों और सिद्धांतों में शरण लेने से क्या होगा? विचारों के धुयें में स्वयं को छिपा लेने से क्या होगा? उससे तो और घुटन होगी और घबड़ाहट होगी। वह उपचार नहीं, उपचार के नाम पर और बडे रोगों को निमंत्रण दे आना है।

मित्र, अनेक बार ऐसा होता है कि वैद्य बीमारी से भी ज्यादा घातक सिद्ध होते हैं, और औषधियां और नये रोगों की उत्पत्ति की श्रृंखला बन जाती हैं!

ज्ञान की खोज के नाम पर विचारों के संग्रह में पड जाना ऐसी ही औषधि के शिकार होना है।

अज्ञान से मुक्ति के लिये शास्त्रों से बंध जाना, स्वतंत्रता के नाम पर और भी गहरी परतंत्रता में पड़ जाना है।

सत्य शब्दों में नहीं, स्वयं में है, और उसे पाने के लिये किसी तंत्र से बंधना नहीं, वरन् सर्व तंत्रों से मुक्त होना है।

स्वतंत्रता में——पूर्ण स्वतंत्रता में ही सत्य का साक्षात् है।

और संग्रह परतंत्रता है। संग्रह का अर्थ ही है : स्वयं पर अविश्वास और

जो स्वयं नहीं है उस पर विश्वास। पर-श्रद्धा ही परतंत्रता लाती है। पर-श्रद्धा से जो मुक्त होता है, वह स्वतंत्र हो जाता है।

शास्त्र में, शास्ता में, शासन में श्रद्धा परतंत्रता है।

शब्द में, सिद्धांत में, संप्रदाय में श्रद्धा परतंत्रता है।

इसलिये ही मैं कहता हूं : पर में श्रद्धा करना परतंत्रता है। और स्व श्रद्धा है : स्वतंत्रता। स्वतंत्रता सत्य में ले जाती है।

विचार की शक्ति को जगाना है तो विचारों से——उधार और पराये विचारों से स्वतंत्र होना होगा। फिर वे विचार चाहे किसी के भी हों। उनका पराया होना ही, उनसे मुक्त होने के लिये पर्याप्त कारण है।

यह उचित है कि मैं जानूं कि मैं अज्ञानी हूं। और अज्ञान को शीघ्रता से भूलने का कोई भी उपाय न करुं। भूलने की दृष्टि ही तो आत्मवंचक है। संपत्ति हो या सत्ता या तथाकथित ज्ञान—— सभी में स्वयं की दरिद्रता, दीनता और अंधकारपूर्ण रिक्तता को भूलने की ही तो साधना चलती है। स्वयं की वस्तुस्थिति के विस्मरण के लिये हम सब कैसे बेचैन रहते हैं? आत्महीनता से जो भरे हैं, वे पद और अधिकार और शक्ति के लिये पागल रहते है। क्या आपको ज्ञात नहीं कि महत्वाकांक्षा आत्महीनता की ही पुत्री है? और जो आत्मदरिद्र हैं, वे स्वर्ण मुद्राओं के ढेर इकट्ठे करने में अपने स्वर्ण जैसे जीवन को मिट्टी के मोल खो देते हैं। अपंग डोलियों पर पहाड चढकर दिखाना चाहते हैं कि वे अपंग नहीं हैं! और, लूले-लंगडे विद्युत् गति से दौडते यानों में बैठकर विश्वास कर लेना चाहते हैं कि वे लूले लंगडे नहीं हैं! तैमूर ही लंगडा नहीं था, सभी तैमूर लंगडे हैं! अलेक्जेंडर, हिटलर और शेष सभी दूसरे विक्षिप्त चित्त व्यक्ति इसी नियम की साकार प्रतिमायें हैं। जो मृत्यु से जितना भयभीत होता है, वह उतना ही हिन्सक हो जाता है। दूसरों को मारकर वह विश्वास कर लेना चाहता है कि मैं मृत्यु के ऊपर हूं! शोषण है, युद्ध हैं, क्योंकि विक्षिप्त चित्त व्यक्ति स्वयं से पलायन करने में संलग्न हैं।

जीवन नारकीय हो गया है। और समाज एक मृत सडा हुआ दुर्गंध देता शरीर हो गया है, क्योंकि हम चित्त की बहुत सी विक्षिप्तताओं को पहचानने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। सत्ता की, संग्रह की, शक्ति की सभी दौड़ें पागलपन की अवस्थायें हैं। ये चित्त की बहुत संघातक रुग्णतायें हैं। जो व्यक्ति इन दौडों में है, वे बीमार हैं और जहां उनकी बीमारी है, ठीक उसकी विपरीत

दिशा में वे अपनी बीमारी से बचने को भागे जा रहे हैं। बिना सोचे कि बीमारी बाहर नहीं है कि उससे भागा जा सके। वह भीतर है, और इसलिये उससे कितना ही भागा जावे वह सदा ही साथ है। यह बोध दौडने की गति को और तेज कर देता है। बीमारी साथ है तो और तेजी से भागो। अंततः भागना एक पागलपन हो जाता है। और यह स्वाभाविक ही है क्योंकि स्वयं से भागना संभव ही नहीं है। असंभव को करने के प्रयास में से ही पागलपन पैदा हो जाता है। फिर इस अशांति, इस अति तनाव को भूलने के लिये नशे चाहिये। शरीर के नशे चाहिये और मन के नशे चाहिये। सेक्स और शराब। भजन और कीर्तन। प्रार्थना और पूजा। स्वयं को भूलने के लिये धन की, पद की, ज्ञान की दौड थी, अब दौड को, भूलने के लिये कोई और भी गहरी मादकता आवश्यक है। ऐसे व्यक्ति धर्म के निकट भी आत्म विस्मरण के लिये आते हैं। धर्म भी उन्हें एक मादक द्रव्य से ज्यादा नहीं है। तथाकथित समृद्ध देशों में धर्म के प्रति बढती उत्सुकता का कोई और कारण नहीं है। धन की दौड तोडने लगती है तो धर्म की दौड शुरु हो जाती है। लेकिन दौड जारी रहती है। जबकि प्रश्न दौड को बदलने का नहीं, ठहरने का है और स्वयं से पलायन को छोडने का है।

विचारक विचारों के सहारे स्वयं से भागे रहते हैं। कलाकार कला के सहारे। राजनैतिक सत्ता के सहारे। धनिक धन के सहारे। त्यागी त्याग के सहारे। भक्त भगवान के सहारे। लेकिन जीवन सत्य को केवल वही जान पाता है, जो स्वयं से भागता नहीं है। पलायन अस्वास्थ्य है। स्वयं से भागना अस्वास्थ्य है। स्वयं में ठहर जाना स्वस्थ होना है।

मैं जो कह रहा हूं, उस पर विचार करें। क्या संग्रह की विक्षिप्तता किसी भी भांति के संग्रह का पागलपन स्वयं से पलायन नहीं है?

विचार का संग्रह स्वयं के अज्ञान से आंखें मूंदने की विधि है। इसलिये मैं विचार शक्ति के तो पक्ष में हूं लेकिन विचारों के पक्ष में नहीं हूं।

क्या धनाढ्य होने से दरिद्रता मिटती है? तो फिर विचारों से अज्ञान कैसे मिट सकता है? न तो धन व्यक्तित्व के केन्द्र को स्पर्श करता है, और विचार ही। संपत्ति——किसी भी भांति की संपति आत्मा को नहीं छू पाती है। वह बाहर है और बाहर ही हो सकती है। लेकिन उससे भ्रम पैदा हो जाता है। कल संध्या ही एक भिखारी मुझे मिला। वह बोला: 'मैं भिखारी हूं।' उसकी आंखों में दीनता थी, वाणी में दीनता थी। लेकीन उसकी

बात सुनकर मुझे हंसी आ गई और मैंने उससे कहा : "पागल ! क्या कहता है कि तू दरिद्र है ——— भिखारी है ? तेरे पास धन नहीं है, क्या इतना ही दरिद्र होने के लिये काफी है ? मैं तो उन्हें भी भली भांति जानता हूं जिनके पास बहुत धन है लेकिन वे भी दरिद्र हैं ! धन से ही तू स्वयं को दरिद्र समझता हो तो भूल है। रही दूसरी और गहरी दरिद्रता की बात। सो सभी दरिद्र हैं और भिखमंगे हैं।"

सत्य को———स्वयं के आत्यंतिक सत्य को जिसने नहीं जाना है, वह दरिद्र है।

ज्ञान से———स्वयं में अंतर्निहित ज्ञान से जो अपरिचित है, वह अज्ञान में है।

और स्मरण रहे कि वस्त्रों से —— समृद्ध वस्त्रों से—कोई समृद्ध नहीं होता; और न ही विचारों से ——— उधार और पराये विचारों से—कोई ज्ञान को उपलब्ध होता है।

वस्त्र दीनता को ढांक लेते हैं और विचार अज्ञान को; लेकिन जिनके पास गहरी देखने वाली आंखें हैं, उनके समक्ष वस्त्र दीनता के प्रदर्शन बन जाते हैं, और विचार अज्ञान के।

आप स्वयं ही देखो। मैं कहता हूं, इसलिये मत मान लेना। स्वयं ही सोचो। जागो और देखो। क्या हम वस्त्रों के मोह में स्वयं को ही नहीं खो रहे हैं ? और क्या विचारों के मोह में सत्य से वंचित नहीं हो गये हैं ?

और क्या स्वयं को खोकर कुछ भी पाने योग्य है ?

मैं एक महाराजा का अतिथि था। उनसे मैंने कहा : "क्या आपको भी राजा होने का भ्रम है ?" वे चकित हुये थे और बोले थे : "भ्रम ? मैं राजा हूं।" कितनी दृढता से उन्होंने यह कहा था ? और मुझे कितनी दया उन पर आई थी ?

पंडितों से मिलता हूं। उन्हें भी ज्ञानी होने के भ्रम में पाता हूं। और साधुओं से मिलता हूं। उन्हें भी त्यागी होने के भ्रम में पाता हूं।

विचारों के कारण ज्ञान का आभास होने लगता है। समृद्धि के कारण सम्राट होने का, और धन को छोडने के कारण त्यागी होने का। धन होने से कोई धनी नहीं है तो धन छोडने से कोई त्यागी कैसे होगा ? वह तो धनी होने की भ्रांति का ही विस्तार है !

संग्रह में सत्य नहीं है और न ही संग्रह के छोड देने में। सत्य तो उसके प्रति जागने में है, जो संग्रह और त्याग, परिग्रह और अपरिग्रह दोनों के पीछे बैठा हुआ है।

विचारों के संग्रह में ज्ञान नहीं है और न मात्र विचारों के न होने में ही ज्ञान है। ज्ञान तो वहां है, जहां वह है, जो विचारों का भी साक्षी है और विचारों के अभाव का भी।

विचार-संग्रह ज्ञान नहीं, स्मृति है। लेकिन स्मृति के प्रशिक्षण को ही ज्ञान समझा जाता है। विचार स्मृति के कोष में संग्रहित होते जाते हैं। बाहर से प्रश्नों का संवेदन पाकर वे उत्तेजित हो उत्तर बन जाते हैं। और इसे ही हम विचार करना समझ लेते हैं? जबकि विचार का स्मृति से क्या सम्बन्ध? स्मृति है अतीत। बीते हुये अनुभवों का मृत संग्रह। उसमें जीवित समस्या का समाधान कहां? जीवन की समस्यायें हैं नित नूतन, और स्मृति से घिरे चित्त के समाधान हैं सदा अतीत। इसलिये ही जीवन उलझन बन जाता है। क्योंकि पुराने समाधान नई समस्याओं को हल करने में नितांत असमर्थ होते हैं। चित्त चिन्ताओं का आवास बन जाता है, क्योंकि समस्यायें एक ओर इकट्ठी होती जाती हैं, और समाधान दूसरी ओर। और उनमें न कोई संगति होती है और न कोई संबंध, ऐसे चित्त बूढा हो जाता है और जीवन से उसका संस्पर्श शिथिल। स्वाभाविक ही है कि शरीर के बूढे होने के पहले ही लोग अपने को बूढा पाते हैं और मरने के पहले ही मृत हो जाते हैं।

सत्य की खोज के लिये——जीवन के रहस्य के साक्षात् के लिये युवामन चाहिये। ऐसा मन जो कभी बूढा न हो। अतीत से बंधते ही मन अपनी स्फूर्ति, ताजगी और विचार शक्ति, सभी कुछ खो देता है। फिर वह मृत में ही जीने लगता है और जीवन के प्रति उसके द्वार बंद हो जाते हैं। चित्त स्मृति से ——स्मृति रूपी तथाकथित ज्ञान से—न बंधे तभी उसमें निर्मलता और निष्पक्ष विचारणा की संभावना वास्तविक बनती है। स्मृति से देखने का अर्थ है: अतीत के माध्यम से वर्तमान को देखना। वर्तमान को ऐसे कैसे देखा जा सकता है? सम्यक्रुप से देखने के लिये तो आंखें सब भांति खाली होनी चाहिये। स्मृति से मुक्त होते ही चित्त को सम्यक् दर्शन की क्षमता उपलब्ध होती है।

और सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान में ले जाता है। दृष्टि निर्मल हो, निष्पक्ष हो तो स्वयं में प्रसुप्त ज्ञान की शक्ति जाग्रत होने लगती है। स्मृति के भार से मुक्त होते ही दृष्टि अतीत से मुक्त हो, वर्तमान में गति करने लगती है, और मृत से मुक्त होकर वह जीवन में प्रवेश पा जाती है।

मित्र, ज्ञान के लिये ज्ञान के भंडार बनना आवश्यक नहीं। वैसा दुर्व्यवहार अपने साथ कभी मत करना। और भूल से स्मृति को कभी ज्ञान मत मानना।

स्मृति तो एक यांत्रिक प्रक्रिया है। वह विचार के लिये आच्छादन है। अब तो विचारों को स्मरण रखने वाले यंत्र बन गये हैं। उनके आविष्कारने स्मृति की यांत्रिकता को भली भांति सिद्ध कर दिया है। फिर आपसे तो भूलचूक भी होती है। इन यंत्रों से भूलचूक भी नहीं होती। असल में भूल चूक के लिये वहां गुंजाइश ही नहीं। भूल चूक के लिये भी कुछ अयांत्रिकता आवश्यक है। इन यंत्रों को ज्ञान का भोजन देते ही वे तत्संबंध में सारे उत्तर देने में समर्थ हो जाते हैं। उन्हें कोई विस्मृति नहीं होती, इसलिये वे मनुष्य से कही ज्यादा कुशल और भरोसे योग्य हैं। क्या उन यंत्रों की भांति ही हम भी अपनी स्मृति को भी भोजन नहीं देते रहते हैं? और फिर जो हमारे उत्तर है, क्या वे भी इस भोजन की ही प्रतिध्वनियां नहीं हैं? गीता, कुरान, बाईबिल— क्या सभी को हम अपना भोजन नहीं बनाये हुये हैं? महावीर, बुद्ध, मुहम्मद— से लेकर सुबह सुबह आनेवाले दैनिक अखबार तक क्या हमारी स्मृति इसी भोजन के लिये उत्सुक नहीं रहती है? क्या कभी आपने इस तथ्य के प्रति आंखें खोली हैं, कि इस स्मृति से केवल वही आ सकता है जो कि उसमें डाला गया हो? इसलिये कहता हूं कि स्मृति विचार नहीं है। और जो उसे ही विचार समझ लेते हैं, वे बडी जडता में पड जाते हैं। स्मृति की अपनी उपयोगितायें हैं। उसे नष्ट करने का मैं नहीं कहता हूं। कहता हूं यह समझने को कि उसे ही विचार नहीं समझना है। विचार उससे बहुत ही भिन्न आयाम है।

विचार है सदा मौलिक। स्मृति है सदा यांत्रिक। स्मृतिजन्य विचार पुनरुक्ति मात्र है। वह न मौलिक होता है, न जीवित होता है।

ज्ञान स्मृति से भिन्न है, क्योंकि वह यांत्रिक प्रक्रिया नहीं, सचेतन बोध है। ज्ञान स्मृति नहीं है। इसीलिये, ऐसे यंत्र कभी विकसित नहीं हो सकते हैं जिनमें कि ज्ञान हो। जो कार्य यांत्रिक है, केवल उसे ही यंत्रों से कराया जा सकता है। और जो यांत्रिक है, उसे ही विचार मान लेने से मनुष्य एक यंत्र मात्र ही रह जाता है। स्मृति को ही विचार मान लेना, मनुष्य की यांत्रिकता को घोषित करना है। प्रज्ञा तो यांत्रिक नहीं है किन्तु पांडित्य सदा यांत्रिक रहा है। और इसीलिये तथाकथित पंडितों के मस्तिष्क से ज्यादा जड़ और विचारहीन मस्तिष्क खोजने कठिन हैं। समस्या के पूर्व ही उनके समाधान तैयार रहते हैं। प्रश्न के पूर्व ही उनके उत्तर तय हैं। उन्हें सोचना नहीं मात्र दुहराना है। ऐसे ही जड मस्तिष्क सदा से शास्त्रों को दुहराते रहे हैं और शास्त्रों के नाम पर लडते मरते भी रहे हैं। इन दुहरने वाले मस्तिष्क

को विचार विद्रोह प्रतीत होता है। उनका आग्रह विचार के विरोध में सदैव विश्वास के लिये रहा है। मस्तिष्क की यांत्रिकता से विचार का तो मेल नहीं बैठता, लेकिन विश्वास से उसकी पटरी खूब बैठ जाती है। अंधे का अंधे से मिलन सुखद हो तो कोई आश्चर्य भी नहीं ! न स्मृति के पास आंखें हैं, न विश्वास के। इसलिये, स्मृतिनिर्भर विचारणा विश्वास का सहारा मांगती है। और विश्वास स्मृति निर्भर पुनरुक्ति से परिपुष्ट होता है।

आज की ही बात है। सुबह सुबह ही ऐसे एक ज्ञानी ने दर्शन दिये। गीता उन्हें कंठस्थ है। चालीस वर्षों से गीता का पाठ करते रहे हैं। अब सेवा से निवृत्त हुये हैं तो अहर्निश गीता का पारायण चल रहा है। उनकी बात बात में गीता आ जाती है। चित्त को उसके शब्दों से खुद भर लिया है। प्रसंग हो या न हो, उन शब्दों को दुहराते रहते हैं। बहुत अशांत हैं। कलह-प्रिय हैं। जहां बैठते हैं, वहीं विवाद कर बैठते हैं। लोग उनके ज्ञान से भय खाते हैं। उनके उपदेशों से बचते हैं। उनके हाथों में पड जाते हैं तो निकल भागने का अवसर खोजते हैं। लेकिन वे हैं कि अपने ज्ञान को मुक्तहस्त बांटे जाते हैं। उन्हें कृष्ण के वचन समझ में आते हैं, लेकिन लोगों का उनके ज्ञान के प्रति जो भय है, वह दिखाई नहीं देता ! स्वयं की अशांति के कारण भी दिखाई नहीं देते। यद्यपि जगत् भर में कैसे शांति होगी, इसके लिये रामबाण नुस्खे वे अंगुलियों पर बता देते हैं। यह है शास्त्रों को पराये विचारों की दुहराने-वाले चित्त की जडता। ऐसे स्वयं की कोई तो समस्या हल नहीं होती है, और फिर जब अशांत चित्त व्यक्ति शास्त्रों को पकड लेते हैं तो शास्त्र भी संघर्ष, संगठन और हिन्सा के कारण बन जाते हैं। क्या यह संभव है कि बुद्ध और क्राइस्ट, महावीर और जरथुस्थ के शब्द मनुष्य को मनुष्य से तोडनेवाले बनें ? क्या वे हिन्सा और वैमनस्य के आधार हो सकते हैं ? लेकिन, चित्त की जड़ता उन्हें भी शोषण और संघर्ष, हिन्सा और युद्ध में परिणत कर लेती है। धर्मोका इतिहास मनुष्य के मन की जडता के अतिरिक्त और किस बात की गवाही देता है?

शास्त्रीय मस्तिष्क को मैं जड मस्तिष्क कह रहा हूं। क्यों ? क्योंकि जीवन की समस्यायें नित बदल जाती हैं, लेकिन उनके समाधान नहीं बदलते। दुनियां मार्क्स पर आ जावे तो भी वह मनु पर ही बैठा रहता है। फिर दुनियां मार्क्स से आगे निकल जाती है लेकिन वह मार्क्स को ही पकडकर बैठ जाता है। बाईबिल छोडता है तो केपीटल पकड लेता है, लेकिन बिना शास्त्र को पकडे उसकी गति नहीं। जीवन को समझना उसे मूल्यवान नहीं मालूम होता। उसे

तो सिद्धांतों और शब्दों से प्रेम होता है। यह भी इसलिये कि जीवन को उलझने के लिये विचार चाहिये, जबकि शास्त्र को पकडने में विचार की कोई आवश्यकता नहीं। स्मृति को किसी भी चीज से भर लेना बडी सरल बात है। किन्तु वह प्रौढ बुद्धि का लक्षण नहीं। प्रौढता का लक्षण है : विचार। समस्याओं को देखने की क्षमता। शास्त्रीय बुद्धि को समस्यायें दिखाई ही नहीं देतीं। समस्यायें तो उसे खूंटियों की भांति होती हैं, जिनपर अपने बंधे बंधाये, रटे रटाये सिद्धातों को टांगने में उसे मजा आता है। शास्त्रीय बुद्धि समस्या के अनुकुल समाधान नहीं, वरन् अपने पूर्वनिर्धारित समाधान के अनुकूल ही समस्या को देखती है। और यह न देखने से भी बदतर है। क्योंकि इस भांति थोपे गये समाधान पुरानी समस्याओं को तो मिटाते नहीं उल्टे और नई समस्यायें खड़ी कर देते हैं। यह अप्रौढ दृष्टि उस पागल दर्जी की ही भांति होती है, जो कि बने बनाये कपड़े खेंचता है और जब वे किसी के शरीर पर ठीक नहीं आते हैं तो उससे कहता है कि निश्चय ही आपके शरीर में ही कहीं कोई भूल है। पागल दर्जी के कपड़ों में तो कोई भूल कैसे हो सकती है? पंडितों के शास्त्रों में भी कोई भूल कैसे हो सकती है? भूल है तो जरूर जीवन में है। शास्त्र नहीं, बदलाहट करनी है तो जीवन में करनी है। इस जडतापूर्ण चित्त दशा के कारण जीवन व्यर्थ ही उलझता गया है। हजारों साल के शास्त्रों और परंपराओं के बोझ के कारण हम कुछ भी हल करने में क्रमशः असमर्थ होते गये हैं। परंपराओं ने——मृत परंपराओं ने हमारे मन को सब ओर से घेरकर बिल्कुल ही पंगु कर दिया है। किसी भी समस्या का जीवन्त हल खोजना तो दूर, उस समस्या को उसके मूल और नग्नरुप में ही देखना ही करीब करीब असंभव हो गया है। जीवन उलझता जाता है और हम तोतों की भांति रटे हुये सूत्र दोहराते जा रहे हैं।

क्या उचित नहीं है कि मनुष्य का मन मुर्दा समाधानों से मुक्त हो? क्या उचित नहीं है कि हम सदा अतीत की ओर देखने की दृष्टि से सावधान हों? और क्या उचित नहीं है कि हम स्मृति से ऊपर उठकर विचार की शक्ति को जगावें?

विचार शक्ति के जागरण के लिये विचारों का भार कमसे कम होना आवश्यक है। स्मृति बोझ नहीं होनी चाहिये। जीवन जो समस्यायें खडी करे, उन्हें स्मृति के माध्यम से नहीं, सीधे और वर्तमान में देखना चाहिये। शास्त्रों में से देखने की वृत्ति छोडनी चाहिये। जीवन और स्वयं के बीच शास्त्रों

को लाना अनावश्यक ही नहीं, घातक भी है। स्वयं का संपर्क समस्या से जितना सीधा होता है, उतना ही ज्यादा हम उस समस्या को समझने में समर्थ हो पाते हैं। और वह समझ ही अंततः उस समस्या का समाधान बनती है। समस्या के समाधान के लिये समस्या को उसकी समग्रता में जानना और जीना पडता है। फिर चाहे वह समस्या किसी भी तल पर क्यों न हो। उसके विरोध में कोई सिद्धांत खडा करके कभी भी कोई सुलझाव नहीं लाया जा सकता। ऐसे तो व्यक्ति और भी द्वन्द में पडता है। वस्तुतः समस्या में ही समाधान भी छिपा होता है। यदि हम शांत और निष्पक्ष मन से समस्या में खोजेंगे तो अवश्य ही उसे पा सकते हैं।

विचार शक्ति पराये विचारों से मुक्त होते ही जागने लगती है। जब तक पराये विचारों से काम चलाने की वृत्ति होती है तब तक स्वयं की शक्ति के जागरण का कोई हेतु ही नहीं होता। विचारों की बैशाखियां छोडते ही स्वयं के पैरों से चलने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न होने से मृत पडे पैरों में अनायास ही रक्त संचार होने लगता है। फिर चलने से ही चलना आता है। तैरने से ही तैरना आता है। विचार करने से ही विचार का जन्म होता है।

विचारों से मुक्त हो और देखें। क्या देखेंगे ? देखेंगे कि स्वयं की अंतःसत्ता से कोई नई ही शक्ति जाग रही है। किसी अभिनव और अपरिचित ऊर्जा का आविर्भाव हो रहा है। जैसे चक्षु हीन को अनायास ही चक्षु मिल गये हों, ऐसा ही लगेगा। या कि जैसे अंधेरे गृह में अचानक ही दिया जल गया हो, ऐसा लगेगा। विचार की शक्ति जागती है तो अंतर्हृदय आलोक से भर जाता है। विचार शक्ति का उद्‌भव होता है, तो जीवन में आंखें मिल जाती हैं। और जहां आलोक है वहां आनन्द है। और जहां आंख है, वहां मार्ग निष्कंटक है। जो जीवन अविचार में दुख हो जाता है, वही जीवन विचार के आलोक में संगीत बन जाता है।

३. समाधि योग

१ : सत्य खोज की दो दिशायें हैं। एक विचार की, एक दर्शन की। विचार का मार्ग चक्रीय है। उसमें गति तो बहुत होती है पर गन्तव्य कभी भी नहीं आता। वह दिशा भ्रामक और मिथ्या है। जो उसमें पडते हैं, वे मतों में ही उलझकर रह जाते हैं। मत और सत्य भिन्न बातें हैं। मत बौद्धिक धारणा है, जबकि सत्य समग्र प्राणों की अनुभूति। मत बदल जाते हैं। तार्किक

हवाओं के रुख पर उनकी स्थिति निर्भर करती है, उनमें कोई थिरता नहीं होती। सत्य परिवर्तित नहीं होता है। उसकी उपलब्धि शाश्वत और सनातन में प्रतिष्ठा देती है।

२ : विचार का मार्ग उधार है। दूसरों के विचारों को ही उसमें निज की संपत्ति मानकर चलना होता है। उनके ही ऊहापोह और नये-नये संयोगों को मिलाकर मौलिकता की आत्मवंचना पैदा की जाती है। जबकि विचार कभी भी मौलिक नहीं हो सकते हैं। दर्शन ही मौलिक होता है, क्योंकि उसका जन्म स्वयं की अंतर्दृष्टि से होता है।

३: जो भी ज्ञात है, वह अज्ञात में नहीं ले जाता है। सत्य अज्ञात है तो ज्ञात विचार उस तक पहुंचने की सीढ़ियां नहीं बन सकते हैं। उनके परित्याग से ही सत्य में प्रवेश होता है। निर्विचार चैतन्य के आकाश में ही सत्य के सूर्य के दर्शन होते हैं।

४ : मनुष्य चित्त ऐंद्रिक अनुभवों को संग्रहीत कर लेता है। ये सभी अनुभव बाह्य जगत के होते हैं, क्योंकि इंद्रियां केवल उसे ही जानने में समर्थ हैं जो कि बाहर है। स्वयं के भीतर जो है, उस तक इन्द्रियों की कोई पहुंच नहीं है। इन अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जन्मदात्री हैं। इसलिये विचार, विज्ञान की खोज में तो सहयोगी हो सकता है, किन्तु परम सत्य के अनुसंधान में नहीं। स्वयं के आंतरिक केन्द्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो इन्द्रियों के सदा पार्श्व में ही है।

५ : यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विचारों का आगमन बाहर से होता है। वे विजातीय तत्व हैं। उनसे स्वयं की सत्ता उद्घाटित नहीं, वरन् और आच्छादित ही होती है। उनकी धुंध और धुआं जितना गहरा होगा, उतना ही स्वसत्ता में प्रवेश कठिन और दुर्गम हो जाता है, और जो स्वयं को नहीं जानता है, वह सत्य को कैसे जान सकता है? सत्य को जानने का द्वार स्वयं से होकर ही आता है, और कोई दूसरा द्वार भी नहीं है।

६: सत्य को बौद्धिक विचारधारणाओं में पडे रहना ऐसे ही है, जैसे कि कोई अंधा व्यक्ति प्रकाश का चिन्तन करता रहे। उसका सारा चिन्तन व्यर्थ ही होगा, क्योंकि प्रकाश सोचा नहीं, देखा जाता है। उसके लिये विचार नहीं, आंखों का उपचार आवश्यक है। उस दिशा में किसी विचारक की नहीं, चिकित्सक की सलाहें ही उपादेय हो सकती हैं।

७: विचार चिन्तन है, दर्शन चिकित्सा है। प्रश्न प्रकाश का नहीं, सदा

ही आंखों का है। यहीं तत्व चिन्तन और योग विभिन्न दिशाओं के यात्री हो जाते हैं। तत्व चिन्तन अंधों द्वारा प्रकाश का विचार और विवेचना है, जबकि योग आंखें देता है और सत्य के दर्शन की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है।

८: योग समाधी का विज्ञान है। चित्त की शून्य और पूर्ण जाग्रत अवस्था को मैं समाधि कहता हूं। विषयों की दृष्टि से जब शून्य होता है और विषयी की दृष्टि से पूर्ण जाग्रत तब समाधि उपलब्ध होती है। समाधि सत्य के लिये चक्षु है।

९: हमारा चित्त साधारणतः विषयों, विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं से आच्छन्न रहता है। इन अशांत लहरों की क्रमशः एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दीवार हमें स्वयं के बाहर रखती है। सूर्य जैसे सागर पर अपनी उत्तप्त किरणें फेंककर ऐसे बादल पैदा कर लेता है, जो कि उसे ढांकने और आवृत्त करनें में समर्थ हो जाते हैं। ऐसे ही मनुष्य चेतना भी विषयों के संसर्ग में से विचार प्रतिक्रियायों को उत्पन्न कर लेती है और फिर उन्हीं में भटक जाती है। अपने ही हाथों से अपनी सत्ता तक पहुंचने के द्वार बन्द करने के लिये मनुष्य स्वतंत्र है।

१०: किन्तु, जो अपने पैरों में अपने हाथ से बेड़ियां डालने में समर्थ होता है, वह उन्हें तोडने की क्षमता भी अवश्य ही रखता है। स्वतंत्रता हमेशा दोहरी होती है। बनाने की शक्ति में मिटाने की शक्ति भी अवश्य ही अंतर्निहित होती है। इस सचाई को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

११: स्वयं को या सत्य को पाने जो चलता है, उसे विजातीय प्रभावों को दूर करने के लिये उनकी दीवार पर दो बिन्दुओं से आक्रमण करना होता है। एक आक्रमण को मैं जागरुकता के लिये आक्रमण कहता हूं, और दूसरे को शून्यता के लिये। इन दोनों की जहां पूर्णता होती है और संगम होता है, वहां समाधि फलित होती है।

१२: जागरुकता के लिये कार्यो या विचारों में अपनी मूर्च्छा और प्रमत्तता को छोडना पडता है। कोई भी कर्म या कोई भी विचार सोई सी अवस्था में नहीं, परिपूर्ण सजगता में होना चाहिये। सतत ऐसी धारणा करने पर स्वयं में साक्षी का जन्म होता है। जागरुकता के लिये निरंतर सचेत रहने और अपनी अर्ध निद्रा सी चित्त दशा पर निरंतर आघात करने से स्वभावतः ही प्रसुप्त प्रज्ञा में जागरण प्रारम्भ हो जाता है, फिर धीरे धीरे एक बोध चेतना सहज ही साथ रहने लगती है। यहां तक कि निद्रा में भी उसका साथ नहीं छूटता है, यह पहला आक्रमण है।

१३: दूसरा सहयोगी आक्रमण शून्यता के लिये करना होता है। यह स्मरण रखना होता है कि चित्त जितना कम स्पंदित और आन्दोलित हो, उतना ही अच्छा है। ऐसे विचारों और भावों में स्वयं को पडने से रोकना पडता है, जिनका परिणाम चित्त को अशांत करता हो। चित्त की शांति को वैसे ही संभालना पडता है, जैसे कि कोई पथिक रात्रि के अंधकार में आंधियों से अपने दिये को बचाकर चलता हो। ऐसे कर्म, ऐसे विचार या ऐसी वाणी के प्रति सचेत होना होता है, जो कि चित्त की झील पर लहरें पैदा करे और जिससे कि विक्षोभ उत्पन्न होता हो।

१४: दोनों आक्रमण सहयोगी आक्रमण हैं और एक के साधने से दूसरे में सहायता मिलती है। जागरुकता साधने से शून्यता आती है और शून्यता साधने से जागरुकता आती है। उन दोनों में कौन महत्वपूर्ण है, यह कहना कठिन है। उनका सम्बन्ध मुर्गी अंडे के सम्बन्ध जैसा है।

१५: शून्यता और जागरुकता जब पूर्ण हो जाती है तो चित्त एक ऐसी क्रांति से गुजरता है जिसकी कि साधारणतः हमें कोई कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उस परिवर्तन से बडा कोई परिवर्तन मनुष्य जीवन में नहीं है। वह क्रांति आमूल है और उसके द्वारा सारा ही जीवन रुपांतरित हो जाता है। अंधे को अनायास आंख मिल जाने के प्रतीक से ही उससे समझाया जा सकता है।

१६: इस क्रांति के द्वारा व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है और अनिर्वचनीय आलोक का अनुभव करता है। इस आलोक में वह अपने सच्चिदानंद स्वरूप को जानता है। मृत्यु मिट जाती है और अमृत के दर्शन होते हैं। अंधकार विलीन हो जाता है और सत्य से मिलन होता है। वास्तविक जीवन की शुरुआत इस अनुभूति के बाद ही होती है। उसके पूर्व हम मृतकों के ही समान हैं। जीवन सत्य को जो नहीं जानता है, उसे जीवित कहना बहुत अधूरे अर्थों में ही सत्य होता है।

४. शिक्षा का लक्ष्य

मैं आपकी आंखों में देखता हूं, और उनमें घिरे विषाद और निराशा को देखकर मेरा हृदय रोने लगता है। मनुष्य ने स्वयं अपने साथ यह क्या कर लिया है? वह क्या होने की क्षमता लेकर पैदा होता है, और क्या होकर समाप्त हो जाता है? जिसकी अन्तरात्मा दिव्यता की ऊंचाइयां छूती, उसे पशुता की घाटियों में भटकते देख कर ऐसा लगता है कि जैसे किसी फूलों के

पौधे में फूल न लगकर पत्थर लग गये हों, और जैसे किसी दिये से प्रकाश की जगह अंधकार निकलता हो।

ऐसा ही हुआ है। मनुष्य के साथ ऐसा ही हुआ है। उसके कारण ही हम उस सात्विक प्रफुल्लता को अनुभव नहीं करते हैं जो कि हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और हमारे प्राण तमस के भार से भारी हो गये हैं।

मनुष्य का विषाद, वह जो हो सकता है, उस विकास के अभाव का परिणाम है।

शिक्षा मानवात्मा में जो अंतर्निहित है उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम और उपाय है। कभी सुकरात ने कहा था : मैं एक दाई की भांति हूं, जो तुममें अप्रगट है, मैं उसे प्रगट कर दूंगा। यह वचन शिक्षा की भी परिभाषा है।

लेकिन मनुष्य में शुभ और अशुभ दोनों ही छिपे हैं। विष और अमृत दोनों ही उसके भीतर हैं। पशु और परमात्मा दोनों का ही उसके अन्दर वास है। यही उसकी स्वतंत्रता और मौलिक गरिमा भी है। वह अपने होने को चुनने में स्वतंत्र है।

इसलिए सम्यक् शिक्षा वह है जो उसे प्रभु होने की ओर मार्ग दर्शन दे सके।

यह भी स्मरणीय है कि मनुष्य यदि अपने साथ कुछ भी न करे तो वह सहज ही पशु से भी पतित हो जाता है। पशु को चुनना हो तो स्वयं को जैसा जन्म से पाया है, वैसा ही छोड़ देना पर्याप्त है। उसके लिये कुछ और विशेष करने की आवश्यकता नहीं है। वह उपलब्धि सहज और सुगम है। नीचे उतारना हमेशा ही सुगम होता है।

किन्तु ऊपर उठना श्रम और साधना है। वह अध्यवसाय और पुरुषार्थ है। वह संभावना, संकल्प और सतत चेष्टा से ही फलीभूत है। ऊपर उठना एक कला है। जीवन की सबसे बडी कला वही है।

प्रभु होने की इस कला को सिखाना शिक्षा का लक्ष्य है।

जीवन शिक्षा का लक्ष्य है। मात्र आजीविका नहीं। जीवन के ही लिये आजीविका का मूल्य है। आजीविका अपने आप में तो कोई अर्थ नहीं रखती है। पर साधन ही, अज्ञानवश अनेक बार, साध्य बन जाते हैं। ऐसा ही शिक्षा में भी हुआ है। आजीविका लक्ष्य बन गई है। जैसे मनुष्य जीने के लिये न खाता हो, वरन् खाने के लिये ही जीता हो। आज की शिक्षा का कोई यदि विचार करेगा तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य है।

क्या मैं कहूं कि आज की शिक्षा की इस भूल के अतिरिक्त और कोई भूल नहीं है ? लेकिन यह भूल बहुत बडी है । यह भूल वैसी ही है, जैसे कोई किसी मृत व्यक्ति के संबंध में कहे कि इस देह में और तो सब ठीक है, केवल प्राण नहीं हैं ।

हमारी शिक्षा अभी ऐसा ही शरीर है, जिसमें प्राण नहीं हैं, क्योंकि आजीविका जीवन की देह मात्र ही है ।

शिक्षा सप्राण होगी, जब वह आजीविका ही नहीं, जीवन को भी सिखायेगी । जीवन सिखाने का अर्थ है, आत्मा को सिखाना ।

मैं सब कुछ जान लूं, लेकिन यदि स्वयं की ही सत्ता से अपरिचित हूं, तो वह जानना वस्तुतः जानना नहीं है । ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य जिसके केंद्र पर स्व–ज्ञान न हो ? स्वयं में अंधेरा हो, तो सारे जगत में भरे प्रकाश का भी हम क्या करेंगे ?

ज्ञान का पहला चरण स्व–ज्ञान की ही दिशा में उठना चाहिये, क्योंकि ज्ञान का अंतिम लक्ष्य वही है ।

और, व्यक्ति जिस मात्रा में स्व–ज्ञान को जानने लगता है, उसी मात्रा में उसका पशु विसर्जित होता है, और प्रभु की ओर उसके प्राण प्रभावित होते हैं । आत्मज्ञान की पूर्णता ही, उसे परमात्मा में प्रतिष्ठा देती है ।

और वही प्रतिष्ठा आनन्द और अमृत है । उसे पाकर ही सार्थकता और कृतार्थता है । मनुष्य उस परम विकास और पूर्णता के बीज ही अपने में लिये हुये है ।

जब तक बे बीज विकास को न पा लें, तब तक एक बेचैनी और प्यास उसे पीड़ित करेगी ही । जैसे हम भूमि में कोई बीज बोते हैं, तो जब तक वे अंकुरित होकर सूर्य के प्रकाश को नहीं पा लेते हैं, तब तक उनके प्राण गहन प्रसव पीडा से गुजरते हैं। वैसे ही मनुष्य भी भूमि के अंधकार में दबा एक बीज है, और जब तक वह भी प्रकाश को उपलब्ध न हो जावे, तब तक उसे भी शांति नहीं है । और यह अशांति शुभ ही है, क्योंकि इससे गुजरकर ही वह शांति के लोक में प्रवेश पायेगा ।

शिक्षा को यह अशांति तीव्र करनी चाहिये, और शांति का मार्ग और विज्ञान देना चाहिये । तभी वह पूर्ण होगी, और एक नये मनुष्य का और नई मानवता का जन्म होगा । हमारा सारा भविष्य इसी बात पर निर्भर है । शिक्षा के हाथ में ही मनुष्य का भाग्य है । मनुष्य को यदि मनुष्य के ही हाथों बचाना है तो मनुष्य का पुनर्निर्माण अत्यन्त आवश्यक है । अन्यथा मनुष्य का पशु तो मनुष्य को ही विनिष्ट कर देगा । मनुष्य की प्रभु में प्रतिष्ठा ही एकमात्र बचाव है ।

प्रेम के फूल

(पत्रों से)

संकलन-सौ. सोहन बाफना

१

मैं देखता हूं कि मनुष्य का मन अतियों में जीता है। घडी के पेन्डुलम की भांति ही उसकी गति है। वह मध्य में कभी नहीं ठहरता। एक 'अति' से दूसरी 'अति'——यही उसका यात्रा-पथ है। और अति दुख की जननी है। अति चिन्ता और तनाव पैदा करती है। अति स्वयं से बाहर जाना है क्योंकि अति साम्य को, समता को खोना है। स्वयं में ठहरने की भूमिका समता है। स्वयं में होना समता में हुये बिना संभव नहीं। समता अंतर्गमन का द्वार है। अति बहिर्गमन का। अति ही विषमता है। समता स्वास्थ है। विषमता अस्वास्थ। किन्तु मनुष्य चित्त अस्वस्थ ही रहना चाहता है क्योंकि अस्वास्थ में ही उसका जीवन है। स्वास्थ्य की दिशा में गति तो उसकी मृत्यु को ही आमंत्रण है। इसलिये एक अति से ऊब आती है, तो वह तत्क्षण दूसरी अति के प्रति आकर्षित हो जाता है। विराम का अवसर वह नहीं देता। अंतराल को क्षण भर भी रिक्त छोडने की भूल वह नहीं करता। रिक्तता उसके लिये संघातक है। तनाव की स्थिति सदा ही बनी रहे यही उसके लिये शुभ है। वह सदा दौडता रहे–दौडता ही रहे, यही उसके लिये प्राणदायी है। क्योंकि ठहरते ही, रुकते ही तो उसके

दर्शन होते हैं जो कि आत्मा है। और आत्मा को पाने पर चित्त वैसे ही नहीं पाया जाता है जैसे कि सूर्योदय होने पर रात्रि नहीं पाई जाती है।

रात्रि कुछ संन्यासियों के बीच था। उन्हें देखता था। उनके चित्त को देखता था। उनकी क्रियाओं को देखता था। वे सब कभी गृहस्थ थे। उस जीवन के विरोध और प्रतिक्रिया में अब वे संन्यासी हैं। उस जीवन को अब उन्होंने सब भांति उल्टा कर लिया है। चित्त वही है। लेकिन दिशा विरोधी है। भोग छोडा तो त्याग को पकड लिया है। धन छोडा तो दरिद्रता को पकड लिया है। संसार की खोज में जाते थे तो अब संसार से भागे जा रहे हैं। अति बदल गई है किन्तु अति फिर भी वहीं की वहीं है।

एक मित्र हैं। वे कहते हैं : "स्त्री नरक का द्वार है।" यह भी मैं जानता हूं कि कभी वे मानते थे कि स्त्री के अतिरिक्त और कोई स्वर्ग नहीं है। पहले वे स्त्री के लिये लडते थे अब स्त्री से लडते हैं। किन्तु उनके चित्त का केन्द्र आज भी स्त्री बनी हुई है। काम (सेक्स) की ओर जावें या काम के विरोध में, दोनों ही स्थितियों में चित्त काम वासना पर ही घूमता रहता है। काम के विरोध में काम से मुक्ति नहीं है। जो स्त्री को स्वर्ग मानता है, वह तो कामुक है ही, जो उसे नर्क मानता है वह भी कामुक ही है।

शरीर के भोग में ही जानेवाले व्यक्ति हैं, और शरीर को पीडा देकर आनंद अनुभव करनेवाले व्यक्ति भी हैं। किन्तु स्मरण रहे कि दोनों ही देह-वादी है। शरीर भोग ही उल्टा होकर शरीर-योग बन जाता है। इंद्रिय भोग ही इंद्रिय-दमन बन जाता है। चेतना दोनों हीं अतियों में शरीर के तट से बंधी रहती है। इस भांति आत्मा की यात्रा न कभी हुई हें, और न कभी हो ही सकती है।

राग से विराग की अति पर चले जाना ज्ञान नहीं है।

सुख से दुख की अति पर चले जाना संन्यास नहीं है।

सत्य द्वन्द में और अतियों के चुनाव में नहीं, वरन् संयम में और समतामें है।

जीवन का रहस्य और उसे खोलने की कुंजी संयम है। संयम याने चित्त की अतियों से मुक्ति। और अतियों से मुक्त होना, चित्त से ही मुक्त हो जाना है।

एक धनपति युवक था : श्रोण। वह अपूर्व रुप से सुन्दर था। उसके वीरबहूटी से लाल तथा नवनीत से कोमल तलवे थे। उसके उन सुन्दर तलवो पर मुलायम बाल भी उगे हुये थे। सम्राट बिंबसार तक को उसे और उसके तलवों को देखने का कुतुहल हुआ था! श्रोण का जीवन वैभव भोग में ही

बीतता था। सुख ही सुख के सागर में वह तैरता था। किन्तु फिर भी उसका चित्त शांत न था। आनन्द के लिये वह भी लालायित था। जीवन अर्थ के ओर छोर की खोज उसके मन को भी पीडित करती थी। धीरे धीरे उसका चित्त सुखों से भी ऊब गया। सुख की संवेदनायें भी **बोथली** हो गईं। धन, वैभव और भोग सब नीरस हो आया। ऊब की इसी चित्त दशा में उसने बुद्ध के दर्शन किये और उनकी वाणी सुनी। उसके हृदय में नयी अनुभूतियों की आशा जगी। वह विरक्त हो गया और उसने तप का मार्ग अपना लिया। चित्त ने भोग की प्रतिक्रिया में, विरोध में, दमन की दिशा सुझाई। वह भांति भांति से शरीर को कष्ट देने लगा। मन बहुत अद्‌भुत है। वही भोग की नई नई विधियां खोजता है। वही शरीर दमन और उत्पीडन के भी नये नये आविष्कार करता है। कामसूत्र भी वही रचता है आत्महिन्सक तपश्चर्या के मार्ग भी वही खोजता है। अतियों की खोज के लिये वह सदा ही अतिउत्सुक है। श्रोण भी आत्मउत्पीडन में लग गया। शरीर के घोर दमन में वह रस लेने लगा। और भिक्षु साफ सुथरे मार्गों पर चलते तो वह कुश-कंटकों से भरी ही भूमिपर चलता। शीत-ताप में शरीर को सताता। भूख प्यास में शरीर को सताता। उसकी सुन्दर देह सूखकर काली पड गई। उसके कोमल तलवों में घाव बन गये और रक्त बहने लगा। उसका शरीर अशक्त और रुग्ण हो गया। वह तपस्वी जो हो गया था!

एक दिन बुद्ध तथाकथित तपस्वी श्रोण के पास गये। उसकी दशा देख उन्हें दया आनी स्वाभाविक ही थी। उन्होंने उससे बहुत प्रेम से पूछा : "श्रोण, तूने कभी वीणा बजाई है?" श्रोण को स्मरण आया। वह तो वीणा बजाने में बहुत कुशल था। उसने कहा : "हां, भन्ते।" तब बुद्ध ने पूछा :" क्या तार बहुत ढीले हों तो उनसे संगीत पैदा होता है?" श्रोण बोला : "नहीं, भन्ते।" "और यदि तार बहुत कसे हों तो?" श्रोण ने कहा : "तब भी नहीं, भन्ते।" "फिर संगीत कब पैदा होता है?" यह सुन श्रोण जैसे निद्रा से जाग गया। उसकी आंखों से एक नशा विलीन हो गया। वह बोला :" भंते, वीणा के तारों से संगीत का जन्म तभी होता है, जब वे न तो अति ढीले हों और न अति कसे हों। उस सूक्ष्म संतुलन में ही संगीत पैदा होता है।" बुद्ध ने कहा : "फिर श्रोण, स्मरण रख कि जीवन के संगीत का भी नियम यही है।"

जीवन संगीत में हो तो ही सत्य की अनुभूति होती है।

समता, संतुलन, और संयम से संगीत पैदा होता है। चित्त अतियों में

होता है तो विसंगति में होता है। और वह जैसे ही अतियों के, द्वन्दों के मध्य में ठहरता है, वैसे ही संगीत को पा लेता है। इस संगीत में आना ही स्वयं में आना है। वही स्वास्थ्य है। वही सत्य है। वही धर्म है।

२

एक मंदिर के द्वार से निकलता था। देखा, सैकडों व्यक्ति भीतर आ-जा रहे हैं। मैं भी एक कौने में रुक गया और उनकी बातें सुनने लगा। परमात्मा को छोडकर वे और सारी बातें कर रहे थे। उनकी आंखों में न तो प्रेम था, न प्रार्थना थी। फिर वे क्यों मंदिर में जा रहे थे? वे किसे धोखा दे रहे थे? क्या संसार को और स्वयं को धोखा देते देते उन्होंने परमात्मा को भी धोखा देने का साहस कर डाला था?

स्मरण करता हूं तो बहुत से मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों की याद मुझे आती है। उनमें जानेवालों के चेहरे भी मेरी आंखों के सामने घूमने लगते हैं। लेकिन फिर बहुत आश्चर्य होता है। जीवन-भर प्रभु के मंदिरों की यात्रा करनेवालों में से कितने उसके मंदिर की सीढियां चढ पाते हैं? क्या इन मंदिरों से उसका मंदिर बहुत बहुत दूर तो नहीं है?

मनुष्य का हृदय ही जब तक परमात्मा का मंदिर न बने तब तक किसी भी मंदिर में उसका प्रवेश नहीं हो सकता है।

और प्रेम ही जब तक प्रार्थना न बने तब तक कोई प्रार्थना प्रार्थना नहीं हो सकती है।

और सत्य की जब तक स्वयं ही अनुभूति न हो तब तक शास्त्र क्या करेंगे? शब्द क्या करेंगे? सिद्धांत क्या करेंगे?

संसार भर में खोजने पर अंत में ज्ञात होता है कि वह तो स्वयं में ही है।

सत्य स्वयं में है। धर्म स्वयं में है। और जो उसे स्वयं में नहीं खोजता है, वह व्यर्थ खोजता है, उसकी सब खोज मिथ्या है। उसका धर्म, उसके शास्त्र, उसकी प्रार्थना, उसकी पूजा, उसका परमात्मा सब झूठे हैं। वह परमात्मा के मन्दिरों में नहीं, अपनी ही वासना के घरों में आता जाता है। वह प्रार्थना के मौन में नहीं, अपनी ही आकांक्षाओं के शब्द जाल में भटकती है। उसकी आंखें उसके स्वार्थ के क्षितिज से कभी ऊपर नहीं उठतीं और उसके हृदय में परमात्मा की नहीं, उसकी अपनी अहंता की ही मूर्ति सदा प्रतिष्ठित रहती है।

एक गांव में नानक का आगमन हुआ था। वे तो धर्म की बात करते थे। हिन्दु और मुसलमान की नहीं। उनका तो परमात्मा से वास्ता था। मस्जिद और मंदिर से नहीं। उस गांव के नवाब ने उससे कहा : "आपके लिये तो मस्जिद और मंदिर बराबर हैं, तो क्या आप आज मेरे साथ मस्जिद में नमाज पढ़ने को तैयार हैं ? 'नानक ने बहुत आनंदित होकर कहा : "जरुर, जरुर। परमात्मा की प्रार्थना में सम्मिलित होने से बड़ा आनन्द और क्या है ?" फिर, नवाब, काजी और गांव के बहुत से लोग मस्जिद गये। सभी नानक की नमाज देखना चाहते थे। मस्जिद में पहुंचकर काजी और नवाब और उनके साथी नमाज अदा करने लगे किन्तु नानक एक कौने में खडे हो गये और चुपचाप उनकी ओर देखने लगे। उनको इस भांति खडा देखकर नवाब और काजी को बहुत क्रोध आने लगा। वे बीच बीच में नानक की ओर क्रोध से देख भी लेते थे। फिर किसी भांति जल्दी जल्दी उन्होंने नमाज पूरी की और सब नानक पर टूट पडे। वे नानक को धोखेबाज और वचन तोडने वाला कहने लगे। नवाबने क्रोध से आंखें लालकर नानक को डांटा और कहा : "आपने नमाज क्यों नहीं की ? आप नमाज में सम्मिलित क्यों नहीं हुये ?" नानक यह सब देख खूब हंसने लगे और बोले : "मैं तो नमाज में सम्मिलित होने आया था, लेकिन जब आपने ही नमाज नहीं पढी तो में चुपचाप दूर खडा आपके खेल को देखता रहा। और करता भी क्या ? आप सबका ध्यान तो मेरी ओर था। परमात्मा की ओर तो किसी का भी ध्यान नहीं था। यह कैसी इबादत ? यह कैसी प्रार्थना ? परमात्मा के निकट इस भांति कैसे हुआ जा सकता है ?"

मैं भी मंदिरों के, मस्जिदों के, गिरजों के कौनों में खडे होकर देखता रहा हूं। और जो देखा, उससे ज्यादा असत्य मनुष्य के जीवन में और कुछ भी नहीं पाया। और जब धर्म ही असत्य हो तो शेष सब अपने आप ही असत्य हो जाता है। मनुष्य का सब कुछ असत्य हो गया है क्योंकि उसका परमात्मा असत्य है, उसकी प्रार्थना असत्य है। परमात्मा जीवन का आधार है और केन्द्र है, और यदि वही असत्य है तो फिर और क्या सत्य हो सकता है ?

३

सूर्य ऊपर चढ आया है। कैसी अग्नि बरस रही है ? आलोक ही आलोक है, लेकिन यदि कोई आंखें बंद किये हो तो उसे तो अंधकार ही होगा ? छोटी सी पलकें सारे जगत् को अंधकार में डुबाने में समर्थ हैं ?

मैं यह सोचता ही था कि एक मित्र आ गये हैं। पुराने परिचित हैं। जीवन सत्य की खोज के लिये वर्षों से पागल हैं। जीवन तो निकट है, लेकिन वे उसे दूर खोज आये हैं। वस्तुतः, खोज ही उसकी हो सकती है जो दूर हो! निकट को क्या खोजना? और जो हम स्वयं हैं, उसे तो खोजेंगे ही कैसे? वहां तो जिसे खोजना है और जो खोज रहा है, उन दोनों में इतना अवकाश ही नहीं है कि खोज हो सके। इससे अक्सर ही जो खोजते हैं, वे और भी दूर निकल जाते हैं, और जो जीवन को जीते हैं, वे खोज लेते हैं। जीवन को उसकी समग्रता में जीना ही, उसे जानना भी है।

जीवन सत्य की खोज की ओट में जीवन से पलायन ही छिपा होता है। और जहां पलायन है, वहां ज्ञान असंभव है। ज्ञान निष्क्रिय उपलब्धि नहीं है। वह तो सतत संघर्ष का फल है। सत्य कोई ऐसी बात नहीं है कि जीवन से दूर बैठकर सीखी जा सके। वह तो जीवन के अहर्निश साक्षात् से ही निष्पन्न होने वाली आत्मक्रांति है।

सत्य पलायन में नहीं, संघर्ष में है।

और सत्य जीवन से दूर जाने में नहीं, जीवन में ही है। वस्तुतः, तो कोई जीवन से दूर जा ही कैसे सकता है? दूर जाने का धोखा ही ओढा जा सकता है, लेकिन दूर जाया नहीं जा सकता। जीवन तो स्वांस स्वांस में है। उससे भागनेवाला भागकर कहां जायेगा? वह जहां भी होगा, जीवन वहीं है। सागर की मछली कितना ही भागे, सागर में ही भागेगी —— सागर से दूर जाना तो असंभव ही है!

जीवन में जिन्होंने नहीं खोजा, वे धीरे धीरे शास्त्रों को, शब्दों को, सिद्धांतों को ही सत्य मान लेते हैं। सत्य की जगह सिद्धांत ही पकडकर तृप्ति कर ली जाती है। शास्त्र इस भांति एक वास्तविक अभाव के भ्रांति पूरक सिद्ध होते हैं। भीतर अभाव बना रहता है, लेकिन ऊपर से सीख लिये शब्दों से उस अभाव को और उसकी पीडा को स्वयं की ही आंखों से छिपा लिया जाता है। अपने अज्ञान को उधार ज्ञान से छिपा लेने से अधिक आसान और हो भी क्या सकता है? ज्ञान के बिना ही ज्ञान निश्चय ही बडी आसान बात है। क्योंकि वास्तविक ज्ञान तो जीवन्त तप से ही मिलना संभव है।

मैं आये हुये मित्र की बातें सुन रहा हूं। सत्य तो नहीं, सिद्धांत ही सिद्धांत उनमें हैं। और कोरे सिद्धांत कितना मृत बोझ होते ह? जैसे कोई कब्रस्तान में जाये और वहां कब्रें ही कब्रें दिखाई पडें, ऐसे ही तथाकथित

ज्ञानियों का मस्तिष्क होता है। मृत शब्द ही वहां आवास किये होते हैं।

शास्त्रों के उच्छिष्ट को उन्होंने इतना पचा लिया है कि वही उनके मस्तिष्क की मज्जा बन गया है। बासे और मृत सिद्धांत ही उनके रक्त में प्रवाहित होने लगे हैं। अब जब उनके भीतर से शास्त्र ही बोलते हैं, तो भी उन्हें लगता है कि वे स्वयं ही बोल रहे हैं। इस भांति शास्त्र जीवित, और वे स्वयं और उनकी प्रज्ञा मृत हो गई है। किन्तु दूसरों के विचारों में स्वयं के विवेक को खो देने की भूल उतनी ही प्राचीन है, जितना कि प्राचीन मनुष्य है। यह आश्चर्यजनक है किन्तु सत्य है कि सत्य के तथाकथित आकांक्षी अक्सर ही शब्दों से ही तृप्त हो जाते हैं! स्मृति ही उन्हें ज्ञान का धोखा दे देती है, और अपनी प्यास को वे पानी के संबंध में सीखे सिद्धांतों से ही परितृप्त कर लेते हैं।

निश्चय ही यह तथ्य प्यास के वास्तविक न होने का प्रतीक है, क्योंकि वास्तविक प्यास वास्तविक पानी के अतिरिक्त और किसी चीज से नहीं बुझ सकती। झूठा पानी जिस प्यास को बुझा दे, वह प्यास प्यास ही न रही होगी। प्यास तो पानी मांगती है, पानी के संबंध में शास्त्र नहीं। लेकिन, सत्य के प्यासे जब सिद्धांतों से ही संतुष्ट हो जाते हों, तो क्या यह मानना उचित न होगा कि वे वस्तुतः प्यासे ही नही थे।

जीवन को जीना अग्नि से गुजरना है। अनुभव बडी पीडा से उपलब्ध होते हैं। उनके लिये मूल्य चुकाना होता है। और फिर जो उनसे गुजरते समय जागरुक और सचेत होता है, वही केवल उनके सार और अर्थ को निचोडकर ज्ञान को प्राप्त कर पाता है। मात्र अनुभव भी पर्याप्त नहीं है। मूर्च्छित और बेहोश रहकर उनसे निकल भी जाना किसी सार्थकता तक नहीं पहुंचता। जो जागकर अपने अनुभवों को जीता है, वही जीवन का अर्थ जान पाता है। ज्ञान की उपलब्धि का जीवन को जागरुक रहकर जीने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। लेकिन जो इस लम्बे अग्नि पथ से बचना चाहता हो वह शास्त्रों में पलायन कर सकता है। वह शब्दों को ही सत्य मानकर रुक जा सकता है। शास्त्र और शब्द व्यक्ति को स्वयं जीने और जानने के कष्ट से बचा देते हैं। लेकिन फिर सत्य से भी वंचित ही रह जाना होता है। ज्ञान की प्रसव पीडा से ही पलायन ज्ञान का जन्म नहीं बन सकता है।

सत्य को पाना नहीं, वरन् स्वयं में जन्म देना होता है। वह कहीं बाहर खोजन की वस्तु नहीं है। वस्तुतः, वह वस्तु ही नहीं है, इसलिये बाहर तो उसे खोजा ही नहीं जा सकता। वह तो है अनुभूति। उसे पाना नहीं, वरन् स्वयं

में जगाना है। वह बाहर कहीं जगत् की नहीं, वरन् हमारी ही प्रसुप्त संभावना है। उसे पाने को कोई बाह्य यात्रा नहीं करनी है। करना है आत्म परिवर्तन— करना है उसका स्वयं में उद्घाटन। जीवन की सघनता में ——जीवन के संघर्ष में— जीवन के साक्षात् में ही यह हो सकता है। जो गहरी निद्रा में प्रसुप्त है, वह सतत आघातों से ही जाग सकता है। लेकिन ऐसे व्यक्ति हैं जो कि जीवन को पाने को जीवन से ही भागना शुरु कर देते हैं! उन्हें दिखाई नहीं देता है लेकिन वे जीवन की नहीं, वरन् किसी न किसी रुप में मृत्यु की तलाश कर रहे होते हैं। उनकी खोज आत्मघात के लिये है। उनकी शांति की आकांक्षा वस्तुतः मृत्यु की ही आकांक्षा है। जीवन की पीडा— जीवन का तप उन्हें मृत्यु की शरण में भेज देता है। जहां संघर्ष के साक्षात् से पलायन है, वहीं आत्मघात की प्रवृत्ति सक्रिय हो जाती है। वे मरना चाहते हैं और इस मृत्यु को अच्छे शब्दों में छिपा लेते हैं। धर्म और सन्यास के वस्त्रों में मृत्यु भी सम्मोहक लगने लगती है, और आत्मघात का अपराध भी पूजा योग्य हो जाता है।

"मैं हूं", इससे बडा और कोई सत्य मेरे लिये नहीं हो सकता है। सत्ता के लिये जो भी द्वार संभव होगा, वह मेरी ही सत्ता से हो सकता है। स्वयं में जाये बिना जो भी पाया हुआ प्रतीत होगा, वह सत्य नहीं हो सकता है।

इसलिये सत्य को सीखा नहीं जा सकता है, न ही उसे सीखने का कोई उपाय ही न हीं है। और इस कारण जो भी सीखा जा सके, वह सत्य नहीं होगा, सीखा हुआ होने के कारण ही वह असत्य हो जावेगा। सत्य को तो जिया जा सकता है—— जाना जा सकता है, लेकिन सीखा नहीं। ज्ञान शिक्षा से नहीं, स्वयं से— साधना से ही प्राप्त होता है।

शास्त्र सीखे जा सकते हैं। उन्हें स्मरण किया जा सकता है। वे कंठस्थ हो सकते हैं और फिर ज्ञान का धोखा दे सकते हैं। उनकी यांत्रिक पुनरुक्ति में ही आनंद प्रतीत होने लगता है, क्योंकि इस भांति मन को झूठी सुरक्षा मिल जाती है। अज्ञान में असुरक्षा है, अशक्ति है, भय है। तथाकथित ज्ञान सुरक्षा शक्ति और अभय देता हुआ प्रतीत होता है। साथ ही उससे अहंता भी परिपुष्ट होती है। झूठे ज्ञान से—— सीखे हुये ज्ञान से अहंकार भरता और प्रबल होता है। वास्तविक ज्ञान का लक्षण निरहंकारिता है, तो झूठे ज्ञान का लक्षण निश्चय ही अहंकार है।

सत्य को सीखने का विचार ही एक मनमोहक स्वप्न से ज्यादा नहीं है।

मैं यही सब उनसे कहता हूं। लेकिन वे शास्त्रों से भरे हैं और सुनने में

असमर्थ हैं। उनके भीतर सीखे हुये सिद्धांत घूम रहे हैं और वे उनकी उलझी हुई भीड में ही खोये हुये हैं। यहां —— मेरे पास उनकी उपस्थिति नहीं है। उनके कान सुनते मालुम होते हैं, लेकिन सुनते नहीं। और, उनकी आंखें देखती मालुम होती हैं, लेकिन देखती नहीं। मैं जैसे ही चुप होता हूं, वे अपने सीखे हुये शब्द पुनः दुहराना शुरु कर देते हैं। उनके शब्दों की मेरे कहे हुये से कोई भी संगति नहीं है। फिर भी वे इस ख्याल में हैं कि उनकी बातें बहुत संगतिपूर्ण हैं, और इस ख्याल में भी कि वे जो कह रहे हैं, वह उन्होंने मेरी बातों पर बहुत विचार करके कहा है।

मैं उन्हें हिलाता हूं, जैसे कि कोई सोये हुये व्यक्ति को हिलाये। वे घबडा जाते हैं और आश्चर्य से मुझे देखने लगते हैं। फिर मैं उनसे कहता हूं: जीवन प्रतिपल नया है। समय की नदी हर क्षण बही जाती है। एक क्षण को भी उसमें कहीं ठहराव नहीं है। ऐसे सतत प्रवाहमय जीवन के सत्य को जानने के लिये बंधे बंधाये सिद्धांत और उत्तर उपयोगी नहीं हो सकते। जड सिद्धांतों से तो मात्र जड को ही जाना और पहचाना जा सकता है। जीवन जड नहीं। उसे जानने को तो चेतना की उतनी ही नयी, ताजी और सजग स्थिति होनी चाहिये। किन्तु संस्कारग्रस्त चित्त बासा हो जाता है और परंपराओं और धारणाओं की जकड उसे जड कर देती है। चित्त की ऐसी जड़दशा में जीवन के प्रवाह से संपर्क और संवाद कैसे संभव है? जो नया है, प्रतिपल नवीन है, जहां न कोई पुरानी लीक है और न ही पुराने की कोई पुनरुक्ति है, वहां पुराने की, ज्ञात की, सीखे हुये की, स्मृति की पुनरुक्ति करने वाला मन स्वाभाविक ही है कि पिछड जाये और असफल हो जावे। प्रश्न जहां नये हैं, वहां पुराने प्रत्युत्तर कैसे काम देंगे? समस्यायें जहां पुरानी नहीं हैं, वहां पुराने समाधानों को ढोना निपट अंधापन ही नहीं तो और क्या है?

एक कथा स्मरण आती है: एक गांव में दो मंदिर थे। दोनों मंदिरों के पुरोहितों में बडा पुराना वैमनस्य था। दोनों पुरोहितों के पास एक एक लडका सेवा सुश्रुषा के लिये था। एक दिन दोनों लडके बाजार जाते हुये मार्ग में मिले। पहले मंदिर के लडके ने पूछा: "मित्र, कहां जा रहे हो? "दूसरे ने कहा: "मेरे पैर जहां भी मुझे ले जावें।" स्वभावतः ही पूछनेवाला इससे चुप रह गया और उसे आगे कुछ भी कहने को नहीं सूझा। बाजार से लौटकर उसने अपने गुरु को यह घटना बताई। गुरु ने कहा: "इस भांति विरोधी से हार जाना उचित नहीं। कल जब तुम्हें वह मिले तो वही प्रश्न तुम पुनः पूछना। वह फिर से पुराना

उत्तर देगा तो तुम कहना: "मानलो तुम्हारे पास पैर न होते, तो जीवन में तुम कहां जाते ?" दूसरे दिन दोनों लडके मिले तो पहले ने पूछा : "मित्र, कहां जा रहे हो ?" दूसरे ने कहा : "हवायें जहां ले जावें।" इससे फिर उसे चुप रह जाना पडा क्योंकि तैयार उत्तर काम नहीं पड सका। लौटकर उसने अपने गुरु से पुनः सलाह ली। गुरु ने कहा : "कल तुम उससे कहना :" मानलो हवायें न हों तो जीवन में तुम कहां जाते ? "दूसरे दिन बाजार जाते हुये दोनों लडके फिर मिले। पहले लडके ने पूछा: "कहां जा रहे हो, मित्र ?" दूसरे ने कहा : "साग सब्जी खरीदने।"

जीवन में भी ऐसा ही है। बंधे बंधाये और सीखे हुये उत्तर वहां भी काम नहीं आते। जो नया है, प्रतिपल नया है, वहां प्रतिपल नयी होकर ही जो चेतना उपस्थित होती है वही उस जीवन्त प्रवाह को जान पाती है, जिससे कि हम घिरे हैं और जो कि हम हैं। जीवन सत्य से परिचित होने को चिर युवा मन आवश्यक है। तथाकथित ज्ञान के बोझ से बूढा हुआ मन कुछ भी नहीं जान पाता है। जिसने अपने चित्त में किसी भांति का कूडा-कचरा इकट्ठा नहीं किया है और उसे सदा युवा बनाये रखा है, वही और केवल वही, उस संपदा का मालिक हो पाता है जो कि जीवन में छिपी है। वह संपदा ही सत्य है।

४

आकाश में वर्षा के पहले बादल घिरे हैं। ग्रीष्म में प्यासी हो उठी पृथ्वी के प्राण आनन्द से पुलकित हो रहे हैं। पक्षी मंगल गीत गा रहे हैं और वृक्षों की आंखें प्रेम और प्रतीक्षा से बादलों को निहार रही हैं। एक वृद्ध बड वृक्ष के नीचे मैं भी इस आनन्दोत्सव में सम्मिलित हुआ बैठा हूं। और निकट ही जनपथ है। उस पर से लोग आ-जा रहे हैं। मैं उन्हें देखता हूं। वे अपने में घिरे हैं। न उन्हें ऊपर घिरे बादलों का पता है, न नीचे हो रहे इस विराट स्वागत-समारोह का। पक्षियों के गीत उन्हें सुनाई नहीं पड रहे हैं और न पृथ्वी की प्रार्थनायें। वे अपने में बंद हैं। वर्तमान में वे नहीं हैं। अतीत — मृत अतीत में ही उनका मन यात्रा किये जाता है। मन अतीत ही है। वह भी मृत है। उसका मुख सदा ही वर्तमान से विमुख है। वह वर्तमान में कभी होता ही नहीं। उसे वर्तमान की सतत जीवन्त और अपरिचित घडियां नहीं, वरन् अतीत की परिचित और जड परिस्थितियां ही प्रिय हैं। जीवन में तो वे परि-

स्थितियां अब हैं नहीं, इसलिये स्मृति में, मनस्थितियों की भांति ही वह उन्हें जिये जाता है। जीवन नित नूतन है किन्तु मन सदैव ही पुरातन बना रहता है। एक राजा के महल में मैं गया था। उस महल के तलघरे में न मालुम किस किस सदी का कूडा कबाड इकट्ठा था। ऐसा ही मनुष्य का मन है। उसमें भी अतीत की धूल इकट्ठी होती रहती है। यह धूल चेतना के दर्पण को इस भांति ढक लेती है, कि फिर उसमें जीवन के प्रतिफलन बनने बन्द ही हो जाते हैं। अतीत बोझ हो जाता है। अतीत बंधन हो जाता है। अतीत एक ऐसा जादुई घेरा हो जाता है कि उसका अतिक्रमण असंभव प्रतीत होता है। चेतना की अमुक्ति यही है। आत्मा के लिये जडता यही है। मन के — मृत मन के अतिरिक्त आत्मा पर और कोई बंधन कहां हैं ?

जीवन के अनुभव के लिये मन की कारा से मुक्ति आवश्यक है।

और मन की कारा से मुक्त जीवन को ही मैं परमात्मा की अनुभूति जानता हूं।

जीवन और मन की दिशायें विपरित हैं। मन मृत्यु की ओर बहता है। वह मृत ही है। मन सदा बासा है। उसका जीवन्त से संपर्क ही नहीं होता है। प्रकाश से जैसे अंधेरा दूर दूर रहता है, ऐसे ही वह भी जीवन से दूर दूर रहा आता है।

श्रावस्ती का मृगार श्रेष्ठि करोडों मुद्राओं का स्वामी था। वह मन में अपनी मुद्रायें ही गिनता रहता। उनकी गणना में ही वह जीता था। वही उसका जीवन था। उनमें ही उसके प्राण थे। उस घेरे के बाहर न उसकी दृष्टि थी, न अनुभूति थी। सोते और जागते मुद्राओं का स्वप्न ही उसे सुलाये रखता था। वह जैसे होश में ही नहीं था। मुद्राओं के सम्मोहन में मूर्च्छित वह होश में होने के भ्रम में ही होता था। एक दिन वह भोजन करने बैठा तो उसकी पुत्रवधु ने पूछा: "भोजन कैसा है तात ? कोई त्रुटि तो नहीं ?" "त्रुटि और विशाखा सी चतुर बहू से ?" मृगार कौर चबाता हंस पडा : "किन्तु तुम ऐसा क्यों पूछती हो, आयुष्मती ? तुमने तो सदा ही ताजे भोजन से मुझे तृप्त किया है ?" यह सुन उसकी पुत्रवधु ने दृष्टि नीची कर बहुत दुख से कहा: "यही तो आपका भ्रम है। मैं आज तक आपको बासा भोजन ही खिलाती रही हूं ! मेरी प्रबल इच्छा है कि आपको ताजे व्यंजन खिलाऊं, किन्तु विवश हूं क्योंकि ताजे भोजन करने को आप तैयार ही नहीं हैं !" मृगार के हाथ का कौर हाथ में ही रह गया और उसने कहा: "यह क्या कह रही हो, शुभे।" विशाखाने कहा: "ठीक ही कहती हूं। मन जिसका

बासा है, उसका सब कुछ— सारा जीवन ही बासा हो जाता है। मन जिसका मृत है, वह जीवित होते हुये भी जीवित नहीं रह जाता है।"

वर्तमान में —— सदा वर्तमान में जो सजग है, सचेत है, सावधान है, वही जाग्रत है, वही जीवित है। वही सत्ता से सम्बन्धित है। न तो अतीत है, न भविष्य है। जो है, वह अभी है और यहीं है। अस्तित्व सदा वर्तमान में है। और मन कभी भी वर्तमान में नहीं है। इसलिये ही मन सत्ता को जानने में असमर्थ हो जाता है। सत्य की राह पर वह इसलिये ही बाधा बन जाता है। सत्य को पाना है तो मन को छोडना होता है। और मन को छोडने की विधि क्या है? वह विधि है : अतीत और भविष्य के सम्मोहन को तोड वर्तमान के सत्य के प्रति जागना। जो है —— जो चारों ओर है— जो भीतर बाहर है – उसके प्रति सहज और सतत जागरुकता से मन क्रमशः विसर्जित हो जाता है, और तब मन की मृत्यु पर उस मौन का जन्म होता है जो कि सत्य के अज्ञात सागर में यात्रा के लिये नौका बन जाता है।

संध्या के तारे

(सांध्यकालीन चर्चाओं से)

संकलन : श्री नरेन्द्र, एम. ए.

१

मनुष्य का विज्ञान

मैं सुनता हूं कि मनुष्य का मार्ग खो गया है। यह सत्य है। मनुष्य का मार्ग उसी दिन खो गया,–जिस दिन उसने स्वयं को खोजने से भी ज्यादा मूल्यवान किन्ही और खोजों को मान लिया।

मनुष्य के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सार्थक वस्तु मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसकी पहली खोज वह स्वयं ही हो सकता है। खुद को जाने बिना उसका सारा जानना अंततः घातक ही होगा।

अज्ञान के हाथों में कोई भी ज्ञान सृजनात्मक नहीं हो सकता, और ज्ञान के हाथों में अज्ञान भी सृजनात्मक हो जाता है।

मनुष्य यदि स्वयं को जाने और जीते, तो उसकी शेष सब जीतें उसकी और उसके जीवन की सहयोगी होंगी, अन्यथा वह अपने ही हाथों अपनी कब्र के लिये गड्ढा खोदेगा।

हम ऐसा ही गड्ढा खोदने में लगे हैं। हमारा ही श्रम हमारी मृत्यु बनकर खडा हो गया है। पिछली सभ्यताएं–बाहर के आक्रमणों और संकटो से नष्ट

हुई थी। हमारी सभ्यता पर बाहर से नहीं, भीतर से संकट है। बीसवीं सदी का समाज यदि नष्ट हुआ तो उसे हमें आत्मघात कहना होगा। और यह हमें ही कहना होगा, क्योंकि बाद में कहने को कोई भी बचने का नहीं है।

संभाव्य–युद्ध इतिहास में कभी नहीं लिखा जायेगा। यह घटना इतिहास के बाहर घटेगी। क्योंकि उसमें तो समस्त मानवता का अंत होगा। पहले के लोगों ने इतिहास बनाया, हम इतिहास मिटाने को तैयार हैं।

और इस आत्मघाती संभावना का कारण एक ही है। वह है, मनुष्य का मनुष्य को ठीक से न जानना। पदार्थ की अनंत शक्ति से हम परिचित हैं। परिचित ही नहीं, उसके हम विजेता भी हैं। पर मानवीय हृदय की गहराइयों का हमें कोई पता नहीं। उन गहराइयों में छिपे विष और अमृत का भी कोई ज्ञान नहीं है।

पदार्थाणु को हम जानते हैं, पर आत्माणु को नहीं। यही हमारी विडम्बना है। ऐसे शक्ति तो आ गई है, पर शांति और सम्बोधि नहीं। और अशांत और अप्रबुद्ध हाथों से आई हुई शक्ति से ही यह सारा उपद्रव है। अशांत और अप्रबुद्ध शक्तिहीन होना ही शुभ होता है। शक्ति सदा शुभ नहीं है। वह तो शुभ हाथों में ही शुभ होती है।

हम शक्ति को खोजते रहे, यही हमारी भूल हुई। अब अपनी ही उपलब्धि से खतरा है। सारे विश्व के विचारकों और वैज्ञानिकों को आगे स्मरण रखना चाहिये कि उनकी खोज मात्र शक्ति के ही लिए न हो। उस तरह की अंधी खोज ने ही हमें इस अंत पर लाकर खड़ा किया है।

शक्ति नहीं, शान्ति लक्ष्य बने। स्वभावतः, यदि शांति लक्ष्य होगी, तो खोज का केन्द्र प्रकृति नहीं, मनुष्य होगा। जड की बहुत खोज और शोध हुई। अब मनुष्य का और मन का अन्वेषण करना होगा। विजय की पताकाएं पदार्थ पर नहीं, स्वयं पर गाड़नी होंगी।

भविष्य का विज्ञान पदार्थ का नहीं, मूलतः मनुष्य का विज्ञान होगा। समय आ गया है कि यह परिवर्तन हो। अब इस दिशा में और देर करनी ठीक नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि फिर कुछ करने को समय भी शेष न बचे।

जड़ की खोज में जो वैज्ञानिक आज भी लगे हैं, वे दकियानूसी हैं और उनके मस्तिष्क विज्ञान के अलोक से नहीं, परम्परा और रूढ़ि के अंधकार में ही डूबे कहे जावेंगे। जिन्हें थोडा भी बोध है और जागरुकता है,—उनके अन्वेषण की दिशा आमूल बदल जानी चाहिये। हमारी सारी शोध मनुष्य को जानने में

लगे, तो कोई भी कारण नहीं है, कि जो शक्ति पदार्थ और प्रकृति को जानने और जीतने में इतने अभूतपूर्व रुप से सफल हुई है, वह मनुष्य को जानने में सफल न हो सके। मनुष्य भी निश्चय ही जाना, जीता और परिवर्तित किया जा सकता है।

मैं निराश होने का कोई भी कारण नहीं देखता। हम स्वयं को जान सकत हैं और स्वयं के ज्ञान पर हमारे जीवन और अंतकरण के बिल्कुल ही नये आधार रखे जा सकते हैं। एक बिल्कुल ही अभिनव मनुष्य को जन्म दिया जा सकता हैं। अतीत में विभिन्न धर्मों ने इस दिशा में बहुत काम किया है, लेकिन वह कार्य अपनी पूर्णता और समग्रता के लिये विज्ञान की प्रतीक्षा कर रहा है। धर्मों ने जिसका प्रारंभ किया है, विज्ञान उसे पूर्णता तक ले जा सकता है। और धर्मों ने जिस के बीज बोये हैं, विज्ञान उस की फसल काट सकता है।

पदार्थ के सम्बन्ध में विज्ञान और धर्म के रास्ते विरोध में पड गये थे, उसका कारण दकियानूसी धार्मिक लोग थे। वस्तुतः धर्म पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ भी कहने का हकदार नहीं था। वह उसकी खोज की दिशा ही नहीं थी। विज्ञान उस संघर्ष में विजयी हो गया। यह अच्छा हुआ। लेकिन उस विजय से यह न समझा जावे कि धर्म के पास कुछ कहने को नहीं है। धर्म के पास कुछ कहने को है और बहुत बहुमूल्यवान सम्पत्ति है। और यदि उस संपत्ति से लाभ नहीं उठाया गया तो उसका कारण रूढ़िग्रस्त पुराणपन्थी वैज्ञानिक होंगे। एक दिन एक दिशा में धर्म विज्ञान के समक्ष हार गया था, अब समय है कि उसे दूसरी दिशा में विजय मिले और धर्म और विज्ञान सम्मिलित हों। उनकी संयुक्त साधना ही मनुष्य को उसके स्वयं के हाथों से बचाने में समर्थ हो सकती है।

पदार्थ को जानकर जो मिला है, आत्मज्ञान से जो मिलेगा उसके समक्ष वह कुछ भी नहीं है। धर्मोंने वह संभावना बहुत थोडे लोगों के लिये खोली है। वैज्ञानिक होकर वह द्वार सबके लिये खुल सकेगा। धर्म विज्ञान बने और विज्ञान धर्म बने, इसमें ही मनुष्य का भविष्य और हित है।

मानवीय चित्त में अनन्त शक्तियां हैं और जितना उनका विकास हुआ है, उससे बहुत ज्यादा विकास की प्रसुप्त संभावनाएं हैं। इन शक्तियों की अव्यवस्था और अराजकता ही हमारे दुख का कारण है, और जब व्यक्ति का चित्त अव्यवस्थित और अराजक होता है तो वह अराजकता समष्टि चित्त तक पहुंचते–पहुंचते सहज ही अनंतगुणा हो जाती है। समाज व्यक्तियों के गुणनफल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह हमारे अंतर्संबंधों का ही फैलाव है। व्यक्ति

ही फैलकर समाज बन जाता है। इसलिये स्मरण रहे कि जो व्यक्ति–में घटित होता है, उसका ही वृहत रूप समाज में प्रतिध्वनित होगा। सब युद्ध मनुष्य के मन में लड़े गये हैं। और सारी विकृतियों की मूल जडें मन में ही हैं।

समाज को बदलना है तो–मनुष्य को बदलना होगा। और समष्टि के नये आधार रखने हैं, तो व्यक्ति को नया जीवन देना होगा।

मैंने कहा मनुष्य के भीतर विष और अमृत दोनों हैं। शक्तियों की अराजकता ही विष है, और शक्तियों का संयम, सामंजस्य और संगीत ही अमृत है।

जीवन जिस विधि से सौन्दर्य और संगीत बन जाता है, उसे ही मैं योग कहता हूं।

जो विचार, जो भाव और जो कर्म मेरे अंतः संगीत के विपरीत जाते हों, वे ही पाप हैं, और जो उसे पैदा और समृद्ध करते हों, उन्हें ही मैंने पुण्य जाना है। चित्त की वह अवस्था जहां संगीत शून्य हो जावे और सभी स्वर पूर्ण अराजक हों.....नर्क है और वह अवस्था स्वर्ग है, जहां संगीत पूर्ण हो।

भीतर जब संगीत पूर्ण होता है, तो ऊपर से पूर्ण का संगीत अवतरित होने लगता है। व्यक्ति जब संगीत हो जाता है, तो समस्त विश्व का संगीत उस की ओर प्रवाहित होने लगता है।

संगीत से भर जाओ तो संगीत आकृष्ट होता है। विसंगीत विसंगीत को ही बुलायेगा और आमंत्रित करेगा। हम मैं जो होता है, वही हम में आने भी लगता है, उस की ही संग्राहकता और संवेदनशीलता हम में होती है।

उस विज्ञान को हमें निर्मित करना है, जो व्यक्ति के अंतर्जीवन को स्वास्थय और संगीत दे सके, और यह किसी और प्रभु के राज्य के लिये नहीं, वरन् इसी जगत् और पृथ्वी के लिये है। यह जीवन ठीक हो तो किसी और जीवन की चिंता अनावश्यक हैं। इसके ठीक न होने से ही परलोक की चिंता पकडती है। जो इस जीवन को सम्यक् रूप देने में सफल हो जाता है, वह अनायास ही समस्त भावी जीवनों को सुदृढ और शुभ आधार देने में भी समर्थ हो जाता है। वास्तविक धर्म का कोई संबंध परलोक से नहीं है। परलोक तो इस लोक का परिणाम है।

धर्मों का परलोक की चिन्ता में होना बहुत घातक और हानिकारक हुआ है। उस के ही कारण हम ज़मीन को शुभ और सुन्दर नहीं बना सके। धर्म परलोक के लिये रहे और विज्ञान पदार्थ के लिये। इस भांति मनुष्य और उसका जीवन उपेक्षित हो गया। परलोक पर शास्त्र और दर्शन निर्मित हुए और पदार्थ

की शक्तियों पर विजय पाई गई। किन्तु जिस मनुष्य के लिये यह सब हुआ, उसे हम भूल गये, अब मनुष्य को सर्वप्रथम रखना होगा। विज्ञान और धर्म दोनों का केन्द्र मनुष्य बनना चाहिये। इसके लिये जरूरी है कि विज्ञान पदार्थ का मोह छोड़े और धर्म परलोक का। उन दोनों का यह मोहत्याग ही उनके सम्मिलन की भूमि बन सकेगा।

धर्म और विज्ञान का मिलन और सहयोग मनुष्य के इतिहास में सबसे बड़ी घटना होगी। इस से बहुत सृजनात्मक ऊर्जा का जन्म होगा। वह समन्वय ही अब सुरक्षा देगा। उस के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। उनके मिलन से पहली बार मनुष्य के विज्ञान की उत्पत्ति होगी और मनुष्य के विज्ञान में हीं अब मनुष्य का जीवन और भविष्य है।

२

धर्म क्या है ?

मैं धर्म पर क्या कहूं? जो कहा जा सकता है, वह धर्म नहीं होगा। जो विचार के परे है, वह वाणी के अन्तर्गत नहीं हो सकता है। शास्त्रों में जो है, वह धर्म नहीं है। शब्द ही वहां हैं। शब्द सत्य की ओर जाने के भले ही संकेत हों पर वे सत्य नहीं हैं। शब्दों से संप्रदाय बनते हैं, और धर्म दूर ही रह जाता है। इन शब्दों ने ही मनुष्य को तोड दिया है। मनुष्यों के बीच पत्थरों की नहीं शब्दों की ही दीवारें हैं।

मनुष्य और मनुष्य के बीच शब्द की दीवारें हैं। मनुष्य और सत्य के के बीच भी शब्द की ही दीवार है। असल में जो सत्य से दूर किये है, वही उसे सबसे दूर किये है। शब्दों का एक मन्त्र घेरा है और हम सब उसमें सम्मोहित हैं। शब्द हमारी निद्रा है, और शब्द के सम्मोहक अनुसरण में हम अपने आपसे बहुत दूर निकल गये हैं।

स्वयं से जो दूर और स्वयं से जो अपरिचित है वह सत्य से निकट और सत्य से परिचित नहीं हो सकता है। यह इसलिए कि स्वयं का सत्य ही सबसे निकट का सत्य है। शेष सब दूर है। बस स्वयं ही दूर नहीं है।

शब्द स्वयं को नहीं जानने देते हैं। उनकी तरंगों में वह सागर छिप ही जाता है। शब्दों का कोलाहल उस संगीत को अपने तक नहीं पहुंचने देता, जो

कि मैं हूं। शब्द का धुंआ सत्य की अग्नि प्रगट नहीं होने देता है, और हम अपने वस्त्रों को ही जानते जानते मिट जाते हैं और उसे नहीं मिल पाते जिसके कि वस्त्र थे, और जो वस्त्रों में था, लेकिन केवल वस्त्र ही नहीं था।

मैं भीतर देखता हूं। वहां शब्द ही शब्द दिखाई देते हैं। विचार, स्मृतियां, कल्पनाएं और स्वप्न, पर वे सब शब्द ही हैं, और मैं शब्द के पर्त–पर्त–घरों में बंधा हूं। क्या मैं इन विचारों पर ही समाप्त हूं, याकि इनसे भिन्न और अतीत भी मुझ में कुछ है? इस प्रश्न के उत्तर पर ही सब कुछ निर्भर है। उत्तर विचार से आया तो मनुष्य धर्म तक नहीं पहुंच पाता, क्योंकि विचार, विचार से अतीत को नहीं जान सकता। विचार की सीमा विचार है। उसके पार की गंध भी उसे नहीं मिल सकती है।

साधारणतः लोग विचार से ही वापिस लौट आते हैं। वह अदृश्य दीवार उन्हें वापिस कर देती है। जैसे कोई कुआं खोदने जाये, और कंकड, पत्थर को पाकर निराश हो रुक जाये, वैसा ही स्वयं की खुदाई में भी हो जाता है। शब्दों के कंकड पत्थर ही पहले मिलते हैं, और यह स्वाभाविक ही है। वे ही हमारा बाहरी पर्त हैं। जीवन यात्रा में उनकी ही धूल हमारा आवरण बन गयी है।

आत्मा को पाने को सब आवरण चीर देने जरूरी हैं। वस्त्रों के पार जो नग्न सत्य है, उस पर ही रुकना है। शब्द को उस समय तक खोदे चलना है, जब तक कि निःशब्द का जल–स्रोत उपलब्ध न हो जाये। विचार की धूलि को हटाना है, जब तक कि मौन का दर्पण हाथ न आ जाय। यह खुदाई कठिन है। यह वस्त्रों को उतारना ही नहीं है, अपनी चमडी को उतारना है। यही तप है।

प्याज को छीलते हुए देखा है? ऐसा ही अपने को छीलना है। प्याज में तो अन्त में कुछ भी नहीं बचता है, अपने में सब कुछ बच रहता है। सब छीलने पर जो बच रहता है, वही वास्तविक है। वही मेरी प्रभावीक सत्ता है। वही मेरी आत्मा है।

एक एक विचार को उठाकर दूर रखते जाना है, और जानना है कि यह मैं नहीं हूं। और इस भांति गहरे प्रवेश करना है। शुभ या अशुभ को नहीं चुनना है। वैसा चुनाव वैचारिक ही है, और विचार के पार नहीं ले जाता। यहीं नीति और धर्म अलग रास्तों के लिए हो जाते हैं। नीति अशुभ विचारों के विरोध में शुभ विचारों का चुनाव है। धर्म चुनाव नहीं है। वह तो

उसे जानना है, जो कि सब चुनाव करता है, और सब चुनावों के पीछे है। यह जानना भी हो सकता है, जब चुनाव का—सब चुनाव शून्य हो। और केवल वही शेष रह जावे जो कि हमारा चुनाव नहीं है वरन् हम स्वयं हैं।

विचार के तटस्थ, चुनावशून्य निरीक्षण से विचारशून्यता आती है। विचार तो नहीं रह जाते, केवल विवेक रह जाता है। विषय वस्तु तो नहीं होती, केवल चैतन्य मात्र रह जाता है। इसी क्षण में प्रसुप्त प्रज्ञा का विस्फोट होता है, और धर्म के द्वार खुल जाते हैं। इसी उद्घाटन के लिए मैं सबको आमंत्रित करता हूं। शास्त्र जो तुम्हें नहीं दे सकते, वह स्वयं तुम्हीं में है। और तुम्हें जो कोई भी नहीं दे सकता, उसे तुम अभी और इसी क्षण पा सकते हो। केवल शब्द को छोडते ही सत्य उपलब्ध होता है।

३

जागें और जानें

मैं मनुष्य को जडता में डूबा हुआ देखता हूं। उसका जीवन बिल्कुल यांत्रिक बन गया है। गुरजिएफ ने ठीक ही उसके लिये मानव यन्त्र शब्द का प्रयोग किया। है हम जो भी कर रहे हैं, वह कर नहीं रहे हैं। पर हमसे हो रहा है। हमारे कर्म सचेतन और सजग नहीं हैं। वे कर्म न होकर केवल प्रतिक्रियायें हैं।

मनुष्य से प्रेम होता है, क्रोध होता है, वासनायें प्रवाहित होती हैं। पर ये सब उसके कर्म नहीं हैं। अचेतन और यांत्रिक प्रवाह हैं। वह इन्हें करता नहीं है, ये उससे होते हैं। वह इनका कर्त्ता नहीं है, वरन् उसके द्वारा किया जाता है।

इस स्थिति में मनुष्य केवल एक अवसर है। जिसके द्वारा प्रकृति अपने कार्य करती है। वह केवल एक उपकरण मात्र है। और उसकी अपनी कोई सत्ता, अपना कोई होना नहीं है। वह सचेतन जीवन नहीं केवल अचेतन यांत्रिकता है।

यह यांत्रिक जीवन मृत्यु तुल्य है।

जडता और यांत्रिकता से ऊपर उठने से ही वास्तविक जीवन प्रारंभ होता है।

एक युवक कल मिलने आये थे, वे पूछते थे कि जीवन का किस दिशा में उपयोग करूं कि बाद में पछताना न पडे। मैंने कहा कि जीवन का एक ही उपयोग है कि वास्तविक जीवन प्राप्त हो। अभी आप जिसे जीवन जान रहे हैं, वह जीवन नहीं है।

और, जिसे अभी जीवन मिला नहीं, उसके सामने उपयोग का प्रश्न ही निर्माण नहीं होता। सत्य जीवन की उपलब्धि न होना ही जीवन का दुरुपयोग है। उसकी उपलब्धि ही सदुपयोग है। उसका अभाव ही पछताना है। उसका होना ही आनंद है।

और जो स्वयं ही अस्तित्व में न हो, वह कर भी क्या सकता है? जिसकी सत्ता अभी प्रसुप्त है, उससे हो भी क्या सकता है।

जो सोया हुआ है। उसमें एकता नहीं, अनेकता है। महावीर ने कहा है: 'यह मनुष्य बहुचित्तवान है।' सच ही हममें एक व्यक्ति नहीं, अनेक व्यक्तियों का आवास है। हम व्यक्ति नहीं, एक भीड हैं।

और, भीड तो कुछ भी निश्चय नहीं कर सकती। क्योंकि वह निर्णय और संकल्प नहीं कर सकती।

इसके पूर्व हम कुछ कर सकें, हमारी सत्ता का जागरण, हमारी आत्मा, हमारे व्यक्ति का होश में आना आवश्यक है। हम व्यक्तियों की अराजक भीड की जगह व्यक्ति हों, बहुचित्तता की जगह चैतन्य हों, तो हममें प्रतिकर्म की जगह कर्म का जन्म हो सकता है। जुंग ने इसे ही व्यक्ति केन्द्र उपलब्धि कहा है।

सजग व्यक्ति के अभाव में जीवन के समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि न तो उनमें एकसूत्रता होती है और न एक दिशा होती है, उल्टे वे स्व विरोधी होते हैं। जो एक निर्मित करता है, उसे दूसरा नष्ट कर देता है। वह स्थिति ऐसी है जैसे किसी ने एक ही बैलगाडी में चारों ओर बैल जोत लिये हों और चालक सोया है, फिर भी कहीं पहुंचने की आशा करता है। मनुष्य का साधारण जीवन ऐसा ही है। उसमें लगता है कि गति हो रही है, लेकिन कोई गति नहीं होती, सब प्रयास निद्रित हैं और इसलिये शक्ति अपव्यय से अधिक कुछ नहीं है। मनुष्य कहीं पहुंच तो नहीं पाता पर केवल शक्ति रिक्त होते जाता है और जिसे उसने जीवन समझा था, वह केवल एक क्रमिक और धीमा आत्मघात सिद्ध होता है।

जिस दिन जन्म होता है, उस दिन ही मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। वह आकस्मिक नहीं आती है। वह जन्म का ही विकास है।

और जो वास्तविक जीवन की प्राप्ति में नहीं लगे हैं, उन्हें जानना चाहिये कि वे केवल मर रहे हैं। जिन्होंने सत्य जीवन की ओर अपने को गतिमान नहीं किया है, मृत्यु के अतिरिक्त उनका भविष्य और क्या हो सकता है।

जीवन के दो अन्त हो सकते हैं : जीवन या मृत्यु या तो हम और बृहत्तर तथा विराट जीवन में पहुंच सकते हैं। या समाप्त हो सकते हैं।

और स्मरण रहे कि जो अन्त हो सकता है, वह आरम्भ से ही मौजूद होता है। आरम्भ में जो नहीं है, वह अंत में भी नहीं हो सकता। अन्त प्रगट होकर वही है। जो कि प्रगट होकर आरम्भ था।

और, तब यदि जीवन के दो अन्त हो सकते हैं। तो उसमें निश्चय ही प्रारम्भ से ही दो दिशायें और सम्भावनायें वर्तमान होनी चाहिये। उसमें जीवन और मृत्यु दोनों सन्निहित हैं। जडता मृत्यु का बीज है। चैतन्य जीवन का। मनुष्य इनका द्वैत है।

मनुष्य जीवन और मृत्यु का मिलन है। मनुष्य चेतना और जडता का संगम है।

मनुष्य यंत्र भी है। पर उसमें कुछ ऐसा है, जो कि यंत्र नहीं है। उसमें अयांत्रिकता भी है। वह तत्व जो कि जडता और यांत्रिकता को समझ पाता है, और उसके प्रति सजग और जागरूक हो पाता है वही तत्व उसकी अयांत्रिकता है। इस अयान्त्रिक दिशा को पकड़कर ही जीवन तक पहुंचा जाता है।

मैं जो अपने में चेतना पा रहा हूं, यह बोध पा रहा हूं कि 'मैं हूं।' यह बोधकिरण ही मुझे सत्ता में ले जाने का मार्ग बन सकती है। साधारणतः यह किरण बहुत धूमिल और अस्पष्ट है।

पर वह अवश्य है। और उसका होना ही महत्वपूर्ण है। अंधेरे में वह धूमिल किरण ही प्रकाश तक पहुंच सकने की क्षमता की सूचना और संकेत है। उसका होना ही निकट ही प्रकाश स्रोत के होने का सुसमाचार है।

मैं तो एक किरण के होने से ही सूरज के होने के विश्वास से भर जाता हूं। उसे जानकर ही क्या सूरज को नहीं जान लिया जाता ?

मनुष्य में जो बोध किरण है वह उसके बुद्धत्व का इंगित है।

मनुष्य में जो होश का मंदा सा आभास है, वह उसकी सबसे बडी संभावना है। वह उसकी सबसे बड़ी संपत्ति है। उससे बहुमूल्य उसमें कुछ भी नहीं है। उसके आधार पर चलकर वह स्वयं तक और सत्ता तक पहुंच सकता है। वह जीवन, बृहत्तर जीवन और ब्रह्म की दिशा है।

जो उस पर नहीं हैं, वे उसके विपरीत हैं। क्योंकि तीसरी कोई दिशा ही नहीं है। उस पर या उसके विपरीत दो ही विकल्प हैं। अभी जो आभास है, उसे या तो विनाश की ओर ले जाया जा सकता है, या विकास की ओर। या तो बोध से बोधि में जाया जा सकता है, या फिर और मूर्च्छा में।

सामान्य जीवन का यांत्रिक वृत्त अपने आप सम्बोधि के प्रकाश शिखरों पर नहीं ले जाता। यह शाश्वत नियम है कि कुछ न करें तो नीचे आना अपने आप हो जाता है। लेकिन ऊपर जाना अपने आप नहीं होता। पतन न कुछ करने से ही हो जाता है, लेकिन उन्नयन नहीं होता। जडता अपने आप आ जाती है, जीवन अपने आप नहीं आता। मृत्यु बिना बुलाये आ जाती है, पर जीवन को बुलावा देना होता है।

बोध की जो किरण प्रत्येक के भीतर है, उसमें और उसके सहारे गति करनी है। जैसे जैसे भीतर गति होती है, वैसे वैसे बोध के आयाम उद्घाटित होते हैं और व्यक्ति जडता और यांत्रिकता के पार होने लगता है।

और जैसे जैसे वह चैतन्य के प्रगाढ होते स्वरूप से परिचित होता है, वैसे वैसे उसकी अनेकचित्तता विसर्जित होने लगती है और उसमें कुछ घना और एकाग्र केन्द्रित होने लगता है। इस प्रक्रिया के परिणाम से वह व्यक्ति बनता है।

४

अहिंसा का अर्थ

मैं उन दिनों को स्मरण करता हूं जब चित्त पर घना अंधकार था और स्वयं के भीतर कोई मार्ग दिखाई नहीं पडता था। तब की एक बात ख्याल में है। वह यह कि उन दिनों किसी के प्रति कोई प्रेम प्रतीत नहीं होता था। दूसरे तो दूर, स्वयं के प्रति भी कोई प्रेम नहीं था। फिर, जब समाधि को जाना तो साथ ही यह भी जाना कि जैसे भीतर सोये हुये प्रेम के अनन्त झरने अनायास ही सहज और सक्रिय हो गये हैं। यह प्रेम विशेष रूप से किसी के प्रति नहीं था। यह तो बस था, और सहज ही प्रवाहित हो रहा था। जैसे दिये से प्रकाश बहता है, और फूलों से सुगन्ध, ऐसे ही बह भी बह रहा था। बोध के उस अद्भुत क्षण में जाना था कि प्रेम तो स्वभाव का प्रकाशन है। वह किसी के प्रति नहीं होता है। वह तो स्वयं की स्फुरणा है।

इस अनुभूति के पूर्व प्रेम को मैं राग मानता था। अब जाना कि प्रेम और राग तो भिन्न है। राग तो प्रेम का अभाव है। वह घृणा के विपरीत है, इसलिये ही राग कभी भी घृणा में परिणत हो सकता है। राग और घृणा का जोड़ा है। वे एक दूसरे में परिवर्तनीय हैं। प्रेम घृणा से विपरीत नहीं, भिन्न है। प्रेम

घृणा और राग से अन्य है। वह आयाम ही दूसरा है। वह तो दोनों का अभाव है। किन्तु, वह उपेक्षा भी नहीं है। उपेक्षा मात्र अभाव है, प्रेम किसी अत्यन्त ही अभिनव ऊर्जा का सद्भाव भी है। यह ऊर्जा स्वयं से सर्व के प्रति बहती है, लेकिन सर्व से आकर्षित होकर नहीं। वरन् स्वयं से स्फुरित होकर।

प्रेम को जानकर मैंने अहिन्सा का अर्थ जाना। यह अर्थ शास्त्र से नहीं, स्वयं से आया। स्वानुभव ने सब सुलझा दिया। प्रेम सम्बन्ध हो तो राग है, प्रेम असम्बन्ध, असंग और स्वस्फुर्त प्रवाह हो, तो अहिन्सा है।

इसलिये, मैं कहने लगा कि वीतराग प्रेम अहिन्सा है।

एक संन्यासी पूछते थे कि जिस प्रेम की आप बात करते हैं, उसे कैसे पायें? मैंने कहा: प्रेम सीधा नहीं पाया जाता है। वह तो परिणाम है। प्रज्ञा को उपलब्ध करो, तो प्रेम तो पारिश्रमिक में मिल जाता है। असली बात है प्रज्ञा। उसका दिया जलेगा, तो प्रेम का प्रकाश मिलेगा ही। प्रज्ञा हो और प्रेम न हो, यह असंभव है। ज्ञान हो और अहिन्सा न हो यह कैसे हो सकता है? इसलिये ही, अहिन्सा को सत्य ज्ञान की परीक्षा माना गया है। वह परम धर्म है, क्योंकि वह आत्यंतिक कसौटी है। उसके निकर्ष पर खरा उतरकर ही धर्म खरा साबित होता है।

प्रज्ञा कैसे उपलब्ध हो, यह विचारणीय है।

धर्म की मूल जिज्ञासा भी यही है। हम में जो ज्ञान शक्ति है, वह विषय मुक्त हो, तो प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है, स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही प्रज्ञा है। उस बोध में न कोई ज्ञाता होता है, न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है। उसका स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा है। ज्ञान का यह स्वयं पर लौट आना मनुष्य चेतना की सबसे बडी क्रांति है। इस क्रांति से ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्ध होता, और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके समक्ष उद्-घाटन होता है।

ऐसी क्रांति समाधि से उपलब्ध होती है। प्रज्ञा का साधन समाधि है। समाधि साधन है, प्रज्ञा साध्य है। प्रेम उस सिद्धि का परिणाम है।

मनुष्य चित्त सतत विषय प्रवाह से भरा है। कोई न कोई ज्ञेय हमारे ज्ञान को घेरे हुये है। ज्ञेय से ज्ञान को मुक्त करना है। उस खूंटी से मुक्त होकर ही उसकी स्वयं में थिरता और प्रतिष्ठा होगी। समाधि इस मुक्ति का उपाय है। सुषुप्ति में भी मुक्ति होती है, लेकिन वह अवस्था मूर्च्छित है।

सुषुप्ति में मन स्वयं में लीन हो जाता है। यह स्थिति उसका अपना स्वरूप है। इससे ही कहते हैं : 'स्वप्ति' (सोता है।) स्व का अर्थ है अपने आप, और अपीति का अर्थ है 'प्रवेश कर जाना' अपने आप में प्रवेश कर जाना ही सुषुप्ति है।

समाधि और सुषुप्ति केवल एक बात को छोडकर बिल्कुल समान हैं। सुषुप्ति अचेतन और मूर्च्छित अवस्था है, समाधि पूर्ण चेतना और अप्रमत्त। इसलिये सुषुप्ति में हम जगत के साथ एक हो गये मालुम होते हैं, और समाधि में परम चेतना के साथ।

इसलिये स्मरण रहे कि समाधि सुषुप्ति नहीं है। अनेक मनस्तत्ववेत्ताओं का ख्याल है कि चेतना जब निर्विषय होगी, तो निद्रा आ जायेगी। यह भ्रांति बिना प्रयोग किये सोचने से पैदा हुई है। चेतना सो जावे तो निर्विषय हो जाती है लेकिन इससे यह फलित नहीं होता है कि वह निर्विषय होगी तो सो जावेगी। उसे निर्विषय बनाया ही इतने श्रम और सचेष्ट जागरुकता से होता है कि उसकी उपलब्धि पर सो जाना असंभव है। उसकी उपलब्धि पर तो शुद्ध बुद्धता ही शेष रह जाती है।

समाधि साधना के तीन अंग हैं : १ : चित्त विषयों के प्रति अनासक्ति। २ : चित्त वृत्तियों के प्रति जागरुकता और ३ : चित्त साक्षी की स्मृति।

चित्तविषयों के प्रति अनासक्ति से उनके संस्कार बनने बंद होते हैं, और चित्तवृत्तियों के प्रति जागरुकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारंभ होता है, और चित्तसाक्षी की स्मृति से स्वयं प्रवेश का द्वार खुलता है।

जो वस्तु जहां उद्गम पाती है, उसमें ही अंततः लीन भी होती है। उद्गम बिन्दु ही लय बिन्दु भी होता है। और जो उद्गम है, जो लय है, वही स्व स्वरुप भी है।

समाधि चित्त की लयावस्था है, जैसे सागर की लहरें सागर में ही अंततः लय को प्राप्त हो जातीं हैं, ऐसे ही चित्त भी, समाधि अवस्था में अपनी समस्त वृत्ति तरंगों को शून्य कर, परम चेतना में लय होता है।

चित्त और चित्तवृत्तियों के समग्र संस्थान का केन्द्र अहंकार है। उनके विलीन होने से वह भी विसर्जित हो जाता है। तब जो शेष रहता है, और जिसकी अनुभूति होती है, वही आत्मा है।

अहिन्सा क्या है ? यह तो रोज ही मुझसे पूछा जाता है : ? मैं कहता हूं 'आत्मा को जान लेना अहिन्सा है।'

मैं यदि स्वयं को जानने में समर्थ हो जाऊं, तो साथ ही सबके भीतर जिसका वास है, उसे भी जान लूंगा। इस बोध से प्रेम उत्पन्न होता है, और

प्रेम के लिये किसी को भी दुख देना असंभव है। किसी को दुख देने की यह असंभावना ही अहिन्सा है।

आत्म अज्ञान का केन्द्रीय लक्षण अहं है। उससे ही समस्त हिन्सा उत्पन्न होती है।' 'मैं' सब कुछ हूं और शेष जगत मेरे लिये है। 'मैं' समस्त सत्ता का केन्द्र और लक्ष्य हूं। इस 'मैं' भाव से पैदा हुआ शोषण ही हिन्सा है।

आत्म ज्ञान का केन्द्रीय लक्षण प्रेम है। जहां अहं शून्य होता है, वहीं प्रेम पूर्ण होता है। जगत में दो ही प्रकार की चेतना स्थितियां हैं : अहं की और प्रेम की। अहं संकीर्ण और अणु स्थिति है, प्रेम विराट और ब्रह्म। अहं का केन्द्र 'मैं' है, प्रेम का कोई केन्द्र नहीं है, या कि 'सर्व' ही उसका केन्द्र है। अहं अपने लिये जीता है, प्रेम सबके लिये जीता है। अहं शोषण है, प्रेम सेवा है। और प्रेम से सहज प्रवाहित सेवा ही अहिन्सा है।

समाधि को साधो, ताकि तुम्हारा जीवन प्रज्ञा के प्रकाश से भर जावे। जब भीतर प्रकाश होगा, तभी बाहर प्रेम बहेगा। प्रेम आत्मिक उत्कर्ष और उपलब्धि का श्रेष्ठतम फल है। जो उसे पाये बिना समाप्त हो जाते हैं, वे जीवन को बिना जाने ही समाप्त हो जाते हैं।

प्रेम को नहीं जाना तो कुछ भी नहीं जाना, क्योंकि प्रेम ही प्रभु है।

५

विज्ञान की अग्नि में : धर्म विश्वास :

मैं स्मरण करता हूं मनुष्य के इतिहास की सबसे पहली घटना को। कहा जाता है कि जब आदम और ईव स्वर्ग के राज्य से बाहर निकाले गये तो आदम ने द्वार से निकलते हुये जो सबसे पहले शब्द ईव से कहे थे, वे थे : 'हम एक बहुत बडी क्रांति से गुजर रहे हैं', पता नहीं पहले आदमी ने कभी यह कहा था या नहीं, लेकिन न भी कहा हो तो भी उसके मन में तो ये भाव रहे ही होंगे, एक बिल्कुल ही अज्ञात जगत् में वह प्रवेश कर रहा था। जो परिचित था वह छूट रहा था, और जो बिल्कुल ही परिचित नहीं था, उस अनजाने और अजनबी जगत में उसे जाना पड रहा था। अज्ञात सागर में नौका खोलते समय ऐसा लगना स्वाभाविक ही है। और ये भाव प्रत्येक युग

में आदमी को अनुभव होते रहे हैं, क्योंकि जीवन का विकास तो निरंतर अज्ञात से अज्ञात में ही है। जो ज्ञात हो जाता है उसे छोडना पडता है, ताकि जो अज्ञात है वह भी ज्ञात हो सके। ज्ञात की ज्योति, ज्ञात से अज्ञात में चरण रखने के साहस से ही प्रज्वलित और परिवर्द्धित होती है। जो ज्ञात पर रुक जाता है वह अज्ञात पर ही रुक जाता है। ज्ञात पर रुक जाना ज्ञान की दिशा नहीं है, जब तक मनुष्य पूर्ण नहीं हो जाता है तब तक निरंतर ही पुराने और परिचित को विदा देनी होगी और नये और अपरिचित का स्वागत करना होगा। नये सूर्य के उदय के लिये रोज ही परिचित पुराने सूर्य को विदा दे देनी होती है। फिर संक्रमण की बेला में रात्रि के अंधकार से भी गुजरना होता है, विकास की यह प्रक्रिया निश्चय ही बहुत कष्टप्रद है। लेकिन बिना प्रसव पीडा के कोई जन्म भी तो नहीं होता है।

हम भी इस प्रसव पीडा से गुजर रहे हैं। हम भी एक अभूतपूर्व क्रांति से गुजर रहे हैं। शायद मानवीय चेतना में इतनी आमूल क्रांति का कोई समय कभी नहीं आया था। थोडे बहुत अर्थों में तो परिवर्तन सदैव होता रहता है, क्योंकि परिवर्तन के अभाव में कोई जीवन ही नहीं है। लेकिन परिवर्तन की सतत प्रक्रिया कभी कभी वाष्पीकरण के उत्ताप बिन्दु पर भी पहुंच जाती है, तब तो आमूल क्रांति घटित हो जाती है। यह बीसवीं सदी एक ऐसे ही उत्ताप बिन्दु पर मनुष्य को ले आई है। इस क्रांति से उसकी चेतना एक बिल्कुल ही नये आयाम में गतिमय होने को तैयार हो रही है। हमारी यात्रा अब एक बहुत ही अज्ञात मार्ग पर होनी संभावित है। जो भी ज्ञात है, वह छूट रहा है और जो भी परिचित और जाना माना है, वह विलीन होता जाता है। सदा से चले आते जीवन मूल्य खंडित हो रहे हैं और परम्परा की कडियां टूट रही हैं। निश्चय ही यह किसी बहुत बडी छलांग की पूर्व तैयारी है। अतीत की भूमि से उखड रही हमारी जडें किसी नयी भूमि में स्थानान्तरित होना चाहती हैं और परम्पराओं के गिरते हुये पुराने भवन किन्हीं नये भवनों के लिये स्थान खाली कर रहे हैं। इन सबमें मैं मनुष्य को जीवन के बिल्कुल ही अज्ञात रहस्य द्वारों पर चोट करते देख रहा हूं। परिचित और चक्रीय गति से बहुत चले हुये मार्ग उजाड हो गये हैं, और भविष्य के अत्यंत अपरिचित और अंधकारपूर्ण मार्गों को प्रकाशित करने की चेष्टा चल रही है। यह बहुत शुभ है, और मैं बहुत आशा से भरा हुआ हूं। क्योंकि यह सब चेष्टा इस बात का सुसमाचार है कि मनुष्य की चेतना कोई नया आरोहण करना चाहती है।

हम विकास के किसी सोपान के निकट हैं। मनुष्य अब वही नहीं रहेगा जो कि वह था। कुछ होने को है, कुछ नया होने को है। जिनके पास दूर देखने-वाली आंखें हैं, वे देख सकते हैं, और जिनके पास दूर को सुनने वाले कान हैं, वे सुन सकते हैं। बीज जब टूटता है और अपने अंकुर को सूर्य की तलाश में भूमि के ऊपर भेजता है तो जैसी उथल पुथल उसके भीतर होती है, वैसी ही उथल पुथल का सामना हम भी कर रहे हैं। इसमें घबडाने और चिन्तित होने का कोई भी कारण नहीं है। यह अराजकता संक्रमणकालीन है। इसके भय से पीछे लौटने की वृत्ति आत्मघाती है। फिर पीछे लौटना तो कभी संभव नहीं है, जीवन केवल आगे की ओर ही जाता है, जैसे सुबह होने के पूर्व अंधकार और भी घना हो जाता है, ऐसे ही नये के जन्म के पूर्व अराजकता की पीडा भी बहुत सघन हो जाती है।

हमारी चेतना में हो रही इस सारी उथल पुथल, अराजकता, क्रांति और नये के जन्म की संभावना का केन्द्र और आधार विज्ञान है। विज्ञान के आलोक ने हमारी आंखें खोल दी हैं और हमारी नींद तोड दी है। उसने ही हमसे हमारे बहुत से दीर्घ पोषित स्वप्न छीन लिये हैं, और बहुत से वस्त्र भी। और हमें स्वयं के समक्ष ही नग्न खडा कर दिया है, जैसे किसी ने हमें झकझोरकर अर्ध रात्रि में जगा दिया हो। ऐसा ही विज्ञान ने हमें जगा दिया है। विज्ञान ने मनुष्य का बचपन छीन लिया है और उसे प्रौढता दे दी है। उसकी ही खोजों और निष्पत्तियों ने हमें हमारी परम्परागत और रुढिबद्ध चिन्तना से मुक्त कर दिया है, जो कि वस्तुतः चिन्तना नहीं, मात्र चिन्तन का मिथ्या आभास ही थीं। क्योंकि जो विचार स्वतंत्र न हो वह विचार ही नहीं होता है। सदियों सदियों से जो अंध विश्वास मकडी के जालों की भांति हमें घेरे थे, उसने उन्हें तोड दिया है, और यह संभव हो सका है कि मनुष्य का मन विश्वास की कारा से मुक्त होकर विवेक की ओर अग्रसर हो सके। कल तक के इतिहास को हम विश्वास काल कह सकते हैं, आने वाला समय विवेक का होगा। विश्वास से विवेक में आरोहण ही विज्ञान की सबसे बडी देन है। यह विश्वास का परिवर्तन मात्र ही नहीं है, वरन् विश्वास से मुक्ति है। श्रद्धायें तो सदा बदलती रहती हैं और पुराने विश्वासों की जगह नये विश्वास लेते रहे हैं। लेकिन आज जो विज्ञान के द्वारा संभव हुआ है वह बहुत अभिनव है। पुराने विश्वास चले गये हैं और नयों का आगमन नहीं हुआ है। पुरानी श्रद्धायें मर गई हैं, और नई श्रद्धाओं का अविर्भाव नहीं हुआ है। यह रिक्तता अभूतपूर्व है।

श्रद्धा बदली नहीं, शून्य हो गई है। श्रद्धा शून्य, विश्वास शून्य चेतना का जन्म हुआ है। विश्वास बदल जायें तो कोई मौलिक भेद नहीं पडता है। एक की जगह दूसरे आ जाते हैं। अर्थी को ले जाते समय जैसे लोग कंधा बदल लेते हैं, वैसा ही वह परिवर्तन है। विश्वास की वृत्ति तो बनी ही रहती है, जबकि विश्वास की विषय वस्तु नहीं, विश्वास की वृत्ति ही असली बात है। विज्ञान ने विश्वास को नहीं बदला है, उसने तो उसकी वृत्ति को ही तोड डाला है। विश्वास वृत्ति ही अंधानुगमन में ले जाती है और वही पक्षपातों से चित्त को बांधती है और जो चित्त पक्षपातों से बंधा हो, वह सत्य को नहीं जान सकता है। उसे जानने को तो निष्पक्ष होना आवश्यक है। जो कुछ भी मान लेता है, वह जानने से वंचित हो जाता है। वह मानना ही उसका बंधन बन जाता है, जबकि सत्य के साक्षात के लिये चेतना का मुक्त होना आवश्यक है। विश्वास नहीं, विवेक ही सत्य के द्वार तक ले जाने में समर्थ है और विवेक के जागरण में विश्वास से बडी और कोई बाधा नहीं है।

यह स्मरणीय है कि जो व्यक्ति विश्वास कर लेता है, वह कभी खोजता नहीं। खोज तो सन्देह से होती है, श्रद्धा से नहीं। समस्त ज्ञान का जन्म संदेह से होता है। संदेह का अर्थ अविश्वास नहीं है, अविश्वास तो विश्वास का ही निषेधात्माक रूप है। खोज न तो विश्वास से होती है, न अंधविश्वास से, उसके लिये तो संदेह की स्वतंत्र चित्त दशा चाहिये। संदेह ही केवल सत्य खोज का पथ प्रशस्त करता है।

विज्ञान ने जो तथाकथित ज्ञान प्रचलित और स्वीकृत था, उस पर संदेह किया और संदेह ने अनुसन्धान के द्वार खोल दिये। संदेह जैसे जैसे विश्वासों या अंध विश्वासों से मुक्त हुआ वैसे वैसे विज्ञान के चरण सत्य की ओर बढे। विज्ञान का न तो किसी पर विश्वास है न अविश्वास, वह तो पक्षपातशून्य अनुसंधान है। ज्ञान के अतिरिक्त प्रयोग जन्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी मानने की वहां तैयारी नहीं। वह न तो आस्तिक है न नास्तिक। उसकी कोई पूर्व मान्यता नहीं है, वह कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहता है। सिद्ध करने के लिये उसकी अपनी कोई धारणा नहीं है। वह तो जो सत्य है, उसे ही जानना चाहता है। यही कारण है कि विज्ञान के पंथ और संप्रदाय नहीं बने और उसकी निष्पत्तियां सार्वलौकिक हो सकीं। जहां पूर्वधारणाओं और पूर्वपक्षपातों से प्रारम्भ होगा, वहां अंततः सत्य नहीं, संप्रदाय ही हाथ में रह जाते हैं। अज्ञान और अंधेपन में स्वीकृत कोई भी धारणा कभी सार्वलौकिक नहीं हो सकती। सार्वलौकिक तो

केवल सत्य हो सकता है। यही कारण है कि जहां विज्ञान एक है, वहां तथा-कथित धर्म अनेक और परस्पर विरोधी हैं। धर्म भी जिस दिन विश्वासों पर नहीं, शुद्ध विवेक पर आधारित होगा, उस दिन अपरिहार्य रूप से एक ही हो जावेगा। विश्वास अनेक हो सकते हैं, विवेक एक ही है। असत्य अनेक हो सकते हैं, सत्य एक ही है।

धर्म का प्राण श्रद्धा थी। श्रद्धा का अर्थ है बिना जाने मान लेना। श्रद्धा नहीं तो धर्म भी नहीं। श्रद्धा के साथ ही उसकी छाया की भांति तथा-कथित धर्म भी चला गया है। धर्मविरोधी नास्तिकता का प्राण अश्रद्धा थी। अश्रद्धा का अर्थ है. . बिना जाने अस्वीकार कर देना। वह श्रद्धा के ही सिक्के का दूसरा पहलू है। श्रद्धा गई तो वह भी गई। आस्तिकता नास्तिकता दोनों ही मृत हो गई हैं। उन दो द्वन्दों, दो अतियों के बीच ही सदा से हम डोलते रहे थे। विज्ञान ने एक तीसरा विकल्प दिया है। यह संभव हुआ है कि कोई व्यक्ति आस्तिक नास्तिक दोनों ही न हो और वह स्वयं को किन्हीं भी विश्वासों से न बांधें। जीवन सत्य के सम्बन्ध में वह परंपरा और प्रचार से उसके अवचेतन में डाली गई धारणाओं से अपने आप को मुक्त कर ले। समाज और संप्रदाय प्रत्येक के चित्त की गहरी परतों में अत्यंत अबोध अवस्था में ही अपनी स्वीकृत मान्यताओं को प्रवेश कराने लगते हैं। हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई या मुसलमान अपनी अपनी मान्यताओं और विश्वासों को बच्चों के मन में डाल देते हैं। निरंतर पुनरुक्ति और प्रचार से वे चित्त की अवचेतन पर्तों में बद्धमूल हो जाती है और वैसा व्यक्ति फिर स्वतंत्र चिन्तन के लिये करीब करीब पंगु सा हो जाता है। यही कम्युनिज्म या नास्तिक धर्म कर रहा है। व्यक्तियों के साथ उनकी अबोध अवस्था में किया गया यह अनाचार मनुष्य के विपरीत किये जाने वाले बडे से बडे पापों में से एक है। चित्त इस भांति परतंत्र और विश्वासों के ढांचे में कैद हो जाता है। फिर उसकी गति पटरियों पर दौडते वाहनों की भांति हो जाती है। पटरियां जहां उसे ले जाती हैं, वहीं वह जाता है। और भ्रम उसे यही होता है कि मैं जा रहा हूं। दूसरों से मिले विश्वास ही उसके विचारों में प्रगट या प्रच्छन्न होते हैं, लेकिन भ्रम उसे यही रहता है कि ये विचार मेरे हैं। विश्वास यांत्रिकता को जन्म देता है और चेतना के विकास के लिये यांत्रिकता से घातक और क्या हो सकता है? विश्वासों से पैदा हुई मानसिक गुलामी और जडता के कारण व्यक्ति की गति कोल्हू के बैल की सी हो जाती है। वह विश्वासों की

परिधि में ही घूमता रहता है और विचार कभी नहीं कर पाता। विचार के लिये स्वतंत्रता चाहिये। चित्त की पूर्ण स्वतंत्रता में ही प्रसुप्त विचार शक्ति का जागरण होता है और विचार शक्ति का पूर्ण आविर्भाव ही सत्य तक ले जाता है।

विज्ञान ने मनुष्य की विश्वास वृत्ति पर प्रहार कर बडा ही उपकार किया है। इस भांति उसने मानसिक स्वतंत्रता के आधार रख दिये हैं। इससे धर्म का भी एक नया जन्म होगा। धर्म अब विश्वास पर नहीं, विवेक पर आधारित होगा। श्रद्धा नहीं, ज्ञान ही उसका प्राण होगा। धर्म भी अब वस्तुतः विज्ञान ही होगा। विज्ञान पदार्थों का विज्ञान है, धर्म चेतना का विज्ञान होगा। वस्तुतः तो सम्यक् धर्म सदा से ही विज्ञान रहा है। महावीर, बुद्ध, ईसा, पातंजलि, या लाओत्से की अनुभूतियां विश्वास पर नहीं, विवेकपूर्ण आत्मप्रयोगों पर ही निर्भर थीं। उन्होंने जो जाना था, उसे ही माना था। मानना प्रथम नहीं, अंतिम था। श्रद्धा आधार नहीं, शिखर थी। आधार तो ज्ञान था। जिन सत्यों की उन्होंने बात की है, वे मात्र उनकी धारणायें नहीं हैं वरन् स्वानुभूत प्रत्यक्ष हैं। उनकी अनुभूतियों में भेद भी नहीं है। उनके शब्द भिन्न हैं, लेकिन सत्य भिन्न नहीं। सत्य तो भिन्न भिन्न हो भी नहीं सकते। लेकिन ऐसा वैज्ञानिक धर्म कुछ अतिमानवीय चेतनाओं तक ही सीमित रहा है। वह लोक धर्म नहीं बना। लोक धर्म तो अंधविश्वास ही बना रहा है। विज्ञान की चोटें अंधविश्वास पर आधारित धर्म को निष्प्राण किये दे रही हैं। यह वास्तविक धर्म के हित में ही है। विवेक की कोई भी विजय अंततः वास्तविक धर्म के विरोध में नहीं हो सकती। विज्ञान की अग्नि में अंधविश्वासों का कूडा कचरा ही जल जायेगा और धर्म और भी निखरकर प्रगट होगा। धर्म का स्वर्ण विज्ञान की अग्नि में शुद्ध हो रहा है, और धर्म जब अपनी पूरी शुद्धि में प्रगट होगा तो मनुष्य के चेतना जगत् में एक अत्यंत सौभाग्यपूर्ण सूर्योदय हो जायेगा। प्रज्ञा और विवेक पर आरुढ धर्म निश्चय ही मनुष्य को अतिमानवीय चेतना में प्रवेश दिला सकता है। उसके अतिरिक्त मनुष्य की चेतना स्वयं का अतिक्रमण नहीं कर सकती। और जब मनुष्य स्वयं का अतिक्रमण करता है तो प्रभु से एक हो जाता है।

अमृथ मंथन

(प्रवचन सार)

संकलन : सौ. उर्मिला, एम. ए.

१. जीवन--अर्थ की खोज

शांति और आनंद से विहीन मानव जीवन को जीवन नहीं, अपितु मत्यु की एक लंबी प्रतीक्षा कहनी चाहिये। हम लोग इतनी प्रवंचना में, इतने खंडों में जीते हैं कि हम कभी यह जान ही नहीं पाते कि अखंड जीवन क्या है और उसे कैसे जीना चाहिये। कोई संगीत को साधता है, कोई यश को साधता है, कोई धन को साधता है किन्तु जीवन को कोई नहीं साधता। जीवन कभी किसी को बना बनाया नहीं मिल सकता। उसको तो तपस्या और साधना से निर्मित करना होता है। वह संगीतमय बन सकता है।

जीवन भर लोग जिस धन और यश के अर्जन के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, वह मृत्यु के समय काम नहीं आता। इस जगत में मृत्यु ही सबसे बडी विपत्ति है, बाकी विपत्तियां तो टल सकतीं हैं किन्तु मृत्यु कभी नहीं टलती। धर्म का संबंध उस संपदा या उस शक्ति से है जो मृत्यु के पार भी जा सकती है और जिसे मत्यु की लपटें जला नहीं सकतीं। यह संपदा उसी व्यक्ति को उपलब्ध होती है जो जीवन को साधता है। जीवन की सिद्धि पर अमृत प्राप्त होता है। जो जीवन को नहीं साधता, जो धर्म को नहीं साधता वह मृत्यु को ही साध रहा है। जीवन के सामने तो एक ही प्रश्न है और वह है मृत्यु। शेष सब प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं, शेष सब समस्याओं के समाधान प्राप्त हो

जाते हैं किन्तु उस एक प्रश्न का उत्तर किसी किसी को ही मिलता है। मत्यु की समस्या के समाधान की खोज में जो लग जाता है वह निश्चय ही अत्यंत साहसी एवं पुरुषार्थी होता है। वही अपने मनुष्य होने की घोषणा कर सकता है। जो मत्यु से घिरे हैं, उनके कार्यों का, उनके विचारों का, उनके यश और सम्मान का तथा उनके धन वैभव का क्या मूल्य है? मृत्यु उनकी सारी चेष्ठाओं को निष्फल कर देगी और उनके हाथ कुछ न रहेगा। जिस प्रकार स्वप्न में अपनी सब इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति देखकर जब कोई सुबह उठता है तो देखता है कि हाथ में तो कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार मृत्यु मनुष्य के सारे स्वप्नों को नष्ट करके उसे जगा देती है। मृत्यु के मुख में पहुंचकर उसे ज्ञान होता है कि जिन वस्तुओं को वह अपनी समझ रहा था वे अपनी नहीं हैं, और जिन लोगों को वह अपना समझता था वे भी अपने नहीं हैं। मृत्यु जीवन की जिस दरिद्रता को और जिस असत्य को उधाड देती है, विवेकशील व्यक्ति मृत्यु से पहले ही उनकी वास्तविकता से परिचित हो जाता है। साधना और धर्म का अर्थ यही है कि, जिन सपनों को मृत्यु नष्ट करती है उन्हें हम अपने हाथों तोड दें, जिस सम्पत्ति को मृत्यु हमसे छीन लेगी उसके बारे में हम पहले से ही जान लें, कि यह हमारी नहीं है। इस भांति जो मृत्यु से पहले ही मृत्यु की वास्तविकता की जानकारी प्राप्त कर लेता है वह एक प्रकार से मृत्यु को ही सहन कर लेता है। वही सच्चा साधक है, वही धर्म में एक है, वही जागृत है।

हम लोगों को यह भ्रम है कि हम सचमुच जी रहे हैं। महावीर न, बुद्ध ने और कृष्ण ने लोगों के इसी भ्रम को तोडा था कि जिसे वे जीवन समझ रहे हैं वस्तुतः वह जीवन नहीं है, और जिसे वे सब कुछ समझ रहे हैं उसकी तो सत्ता ही स्वप्न जैसी है। क्योंकि जब हम अतीत का सिंहावलोकन करते हैं तो बीते हुये दिन स्वप्न जैसे ही मालूम होते हैं। जब अतीत स्वप्न बन जाता है तो जिसे हम वर्तमान समझ रहे हैं वह कितनी देर तक सच प्रतीत होगा, और जो भविष्य है उससे वर्तमान और भूत में परिवर्तित होने में कितनी देर लगेगी? मृत्यु के द्वार पर पहुंचकर तो यह जीवन भी स्वप्न जैसा मालूम होता है। टालस्टाय ने मरते समय अपनी डायरी में लिखा था कि, जब मैं पीछे की ओर देखता हूं तो मुझे लगता है कि शायद मेरी स्मृति खराब हो गई है, और मुझे संदेह होने लगता है, कि अपने इस विगत जीवन को क्या मैंने सचमुच जिया था, या केवल स्वप्न में देखा था।

किन्तु इस स्वप्नरूपी जीवन से कुछ महापुरुष जागे भी हैं। महावीर और बुद्ध ऐसे ही जागृत लोगों में से थे जिन्होंने जीवन के बारे में कहा कि : "यह भी स्वप्न है।" जी लेने पर अंत में जो व्यर्थ जैसा प्रतीत हो, वह तथाकथित जीवन है। जो है, वह सदा है और सदा रहेगा। जो नहीं है, वह नहीं रहेगा। किन्तु जो किसी भी क्षण स्वप्न प्रतीत न हो, जो सर्वदा सत्य प्रतीत हो, वही सत्य है। जिस जीवन को हम जीते हैं वह जी लेने के बाद कथा जैसा लगता है। अतः उसे जीवन नहीं, स्वप्न ही कहना चाहिये। जो वास्तविक जीवन को साधना चाहते हैं उन्हें तो स्वप्नों को छोडना ही पडेगा। हो सकता है कि कोई अत्यंत सुखद स्वप्न देख रहा हो, हो सकता है कि कोई अत्यंत दुखद स्वप्न देख रहा हो, किन्तु सपना तो सपना ही है। उसे छोडे बिना न कोई सत्य को प्राप्त कर सकता है, न जीवन को। प्रभु को, आत्मा को या सत्य को जो जानना चाहता है उसे केवल इन सपनों को छोडना होता है अर्थात् "जो नहीं है" उसे खोना पडता है, ताकि उसका अनुभव हो सके। "जो है" कितना सस्ता सौदा है। स्वप्न के मूल्य पर सत्य मिलता है। प्रायः लोग कहते हैं कि महावीर ने अपना परिवार छोडा, और अपना राज्य छोडा, किन्तु मेरे विचार में तो उन्होंने जो छोड़ा वह स्वप्न था, और जो पाया वह अक्षय निधि थी। यदि स्वप्न के बदले सत्य का पाना त्याग है तो क्या मिट्टी को छोडकर सोने को पाना भी त्याग कहलायेगा ? मेरी शब्दावली में तो अज्ञानी ही त्यागी है, क्योंकि वह अत्यंत अमूल्य वस्तु पाने से वंचित रह जाता है, जबकि ज्ञानी उसे पा लेता है। अतः कहना यह चाहिये कि अज्ञान है त्याग में, और ज्ञान है उपलब्धि में। इस संसार में अज्ञानरुपी अंधकार छाया हुआ है किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जो लोग अंधकार को छोडकर प्रकाश को प्राप्त करते हैं वे त्यागी मालूम होते हैं, अर्थात् पागलों की इस भीड में जो व्यर्थ को छोडकर सार्थक को पाता है वही त्यागी जान पडता है। जिनको संसार त्यागी कहता है उन्हीं को जीवन के अर्थ की उपलब्धि होती है। अतः इस प्रकार का त्याग, कुछ छोडता नहीं, अपितु प्राप्त करता है। चूंकि सत्य को देखने के लिये हमारे पास आंख नहीं है, इसलिये महावीर और बुद्ध ने जिस महान सत्य को प्राप्त किया वह हमें दिखाई नहीं देता। जो सच्चे अर्थ में सन्यासी है, वह तो तुच्छ को छोडकर अमूल्य को प्राप्त कर लेता है। जिन लोगों ने धर्म को त्याग माना है उन्होंने धर्म की बहुत हानि की है क्योंकि त्याग का साहस सब नहीं कर सकते, किन्तु पाने का साहस तो हर व्यक्ति कर सकता है। धर्म त्याग नहीं, उपलब्धि है, वह विधायक उपलब्धि है।

धर्म की हानि न नास्तिकता द्वारा हुई है और न विज्ञान द्वारा। धर्म को नुकसान उन लोगों ने पहुंचाया है जिन्होंने धर्म को नकार की भाषा में प्रस्तावित किया है। शायद वे इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को भूल जाते हैं कि मनुष्य का मन कुछ भी छोडने को तैयार नहीं होता। दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति में पाने की आकांक्षा तो होती है, किन्तु सबल से सबल तुच्छतम वस्तु को त्याग नहीं सकता। परन्तु यह भी सच है कि इस पथ्वी पर ऐसा कोई व्यक्ति न होगा जो स्थायी मूल्य की वस्तु को पाने की आकांक्षा के कारण स्वप्न को छोडने को तैयार न हो। जो लोग धन और यश के आकांक्षी हैं, क्या वे आत्मा और परमात्मा को प्राप्त करने के लिये उत्सुक नहीं हैं? अवश्य हैं। सच तो यह है कि सुख संपत्ति विषयक हमारी अतृप्ति के मूल में छिपी हुई है हमारी परमात्मा को प्राप्त करने की प्यास। हमारे भीतर की आकांक्षा अनंत और असीम को पाना चाहती है, और वह बिना परमात्मा की प्राप्ति के सन्तुष्ट नहीं हो सकती। अपनी छोटी-से छोटी वासना में अंतर्निहित है उसी अनंत की महत्वाकांक्षा।

यदि धर्म के प्राण को अच्छी तरह से समझा जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि वह छोडना नहीं, पाना है। छोडना तो नकार है, शून्य है। छोडने पर मृत्यु खडी हो सकती है, जीवन नहीं। मृत्यु का अर्थ है जहां सब कुछ छूट जाये। जीवन तो उपलब्धि पर ही आधारित है। घरबार छोडनेवाला सन्यासी नहीं है, परम सन्यासी तो वह है जिसने भगवान को प्राप्त कर लिया है। संसार त्याग का इस उपलब्धि के साथ कोई संबंध नहीं है। पहले उपलब्धि होती है, फिर त्याग उसका अनुकरण करता है। जब हमें अनुभव हो जाये कि धर्म त्याग नहीं : उपलब्धि है, प्राप्ति है, तो धर्म नकारात्मक न होकर विधायक विज्ञान बन जायेगा। आप कुछ भी न छोडें, किन्तु आत्मा को उपलब्ध करने की दिशा में जब आप आगे बढने लगेंगे तब छोडना अपने आप घटित होने लगेगा। प्रकाश को पाने का शुभ संकल्प करके जब आप प्रकाश की ओर अग्रसर हों तो उस समय अंधकार को बिल्कुल भूल जावें। जब लोग धर्म के मार्ग पर चलना आरंभ करते हैं तो तुरन्त ही उनके मन में कुछ छोडने का ख्याल आता है। मुझसे प्रायः पूछा जाता है कि क्या छोडें? मेरा सीधा सा उत्तर यही होता है कि आपके पास कुछ होता तो आपसे कहता कि कुछ छोड दो। किन्तु जिसके पास कुछ नहीं है, जो स्वयं दरिद्र है वह क्या छोड़ेगा? मैं तो पाने की बात कहता हूं। पाने का प्रयास छोडने के प्रयास से बिल्कुल भिन्न है। यदि धर्म की नकारात्मक पकड हो तो हम त्याग करने की कोशिश करते हैं,

और अगर धर्म की विधायक पकड हो तो हम सदैव पाने की भाषा में सोचेंगे कि क्या पाना है। जो धर्म से यह पूछता है कि क्या छोडा जाये ? उसके लिये धर्म नीति की तरह उपस्थित होता है, और जो धर्म से पूछता है कि क्या पायें तो उसके लिये धर्म योग की भांति उपस्थित होता है। धर्म के दो रुप हैं : एक नीति और दूसरा योग। जब धर्म जीवित होता है तो वह योग होता है और जब मृत होता है तब नीति बन जाता है, अर्थात् मृत धर्म नैतिक है और जीवित धर्म यौगिक है। वह अहिन्सा को साधना नहीं है, अहिन्सा स्वयं उत्पन्न होती है, वह अपरिग्रह को साधता नहीं, अपरिग्रह स्वयं उत्पन्न होता है। वह तो योग साधता है, ध्यान साधता है और समाधि साधता है। जब कोई नकार से धर्म को पाना चाहता है तो उसके हाथ में केवल नीति रह जाती है। नैतिक होने मात्र से न तो कोई धार्मिक हो सकता है और न आत्मा का अनुभव ही कर सकता है। एक नास्तिक भी नैतिक तो हो सकता है किन्तु धार्मिक नहीं। नैतिकता वस्तुतः कोई क्रांति नहीं है, नैतिकता किसी को सत्य के जगत् से संबंधित नहीं करती किन्तु योग करता है। नीति साधने से योग नहीं आता किन्तु योग साधने से नीति अवश्य अपने आप आ जाती है। यह असंभव है कि योगी अनैतिक हो, किन्तु यह संभव है कि नैतिक योगी न हो। धर्म को तो योग की भांति ही पकडना चाहिये। जब धर्म से यह पूछा जाये कि हमें क्या उपलब्ध करना है तो जो बात विचार में आयेगी वह यह होगी कि सबसे पहले तो जीवन को पाना है। जिनको जीवन ही उपलब्ध नहीं वे और क्या प्राप्त करेंगे ? अभी हम जिसे जीवन समझते हैं वह जीवन नहीं है। चूंकि हम जीवन से अपरिचित हैं इसलिये मृत्यु से घबराते हैं। जो जीवन को पहचान लेता है वह मृत्यु से नहीं डरता, उसके लिये मृत्यु अर्थहीन है। वास्तव में जिसके लिये मौत विलीन हो जाये, वही जीवन से संबंधित होता है।

जिस देह को हम समझते हैं कि यह "हमारा होना है," उसे तो मृत्यु छीन लेती है। किन्तु हमारे भीतर जो शाश्वत है, जो चैतन्य जीवित है उसे मृत्यु नहीं छीन सकती। हमें तो अपने भीतर खोजना चाहिये कि क्या मृत है और क्या जीवित है। जो मृत है उसे तो अस्वीकार करना है, किन्तु अंतिम रूप से उसी शिखा को पकड लेना है, जो जीवन है, और जो योग है।

धर्म का विधायक विज्ञान तो हमें यही सिखाता है कि हम अपने भीतर का निरीक्षण करें और विचार करें कि क्या मृत है और क्या मृत नहीं है। ऐसा करने का नाम ही साधना है। चौबीस घंटे यह चिन्तन अखंडित रूप से करें

जिससे वह जीवन का एक हिस्सा ही बन जाये, और तब वह सत्य स्पष्ट अनुभव होने लगे।

यद्यपि नींद या स्वप्न में देह का बोध नहीं होता तथापि अपने होने का बोध अवश्य होता है। जागने पर ही मालूम होता है कि देह भी है। आंखें बंद करके यदि अपने से पूछा जाये कि क्या मैं देह हूं? तो आपको मालूम हो जायेगा कि आप देह नहीं हैं, क्योंकि जो चेतना देह के प्रति जागृत हो रही है, जो चेतना देह को देख रही है, वह चेतना स्वयं देह नहीं है। जो भी देखा जा सकता है, वह देखे जाने के कारण पृथक हो जाता है। यदि जागकर आप अपनी देह देखें, तो आपको मालूम होगा कि देह एक खोल की तरह है और चेतना उसके बिल्कुल अंदर है। देह से जागना तो पहला चरण है जीवन में प्रवेश पाने का। देह में सोना तो स्वप्न में होना है, किन्तु देह में जागना देह के प्रति बोध से भरना है। उस एकाग्र क्षण में जब खोज की जाती है, तो चेतना देह की दीवारों से टकरा टकराकर वापस लौट आती है, तब यह मालूम होता है कि देह एक खोल के समान है। उसी समय एक नये बिन्दु का जो कि देह नहीं है, बोध होने लगता है। इस चरण के बाद दूसरा गहरा चरण उठाना पडता है अर्थात् अपने से पूछना पडता है कि क्या मैं विचार हूँ? क्या मैं मन हूं? निद्रा में देह विस्मृत हो जाती है, किन्तु मन काम करता रहता है और सुप्तावस्था में तो मन भी सो जाता है। परन्तु उस समय भी अपनी सत्ता तो होती ही है। जिस निरीक्षण द्वारा हमने देह की वास्तविकता को जाना उसी निरीक्षण द्वारा यदि विचार को पहचानें तो पायेंगे कि वह मन का घेरा है। देह का स्थूल घेरा बाहर है, किन्तु भीतर तो मन, विचार और वासनाओं का सूक्ष्म घेरा है। जो देह के प्रति जागेगा, उसे दूसरा प्रयोग मन के प्रति जागने का करना होगा, विचार और मन का निरीक्षण करके उसे अपने से प्रश्न पूछना पडेगा कि क्या मैं मन हूं? एकाग्रता के उस क्षण में उसे मालूम होगा कि जैसे उसकी सत्ता देह के घेरे से बाहर है वैसे ही वह मन के घेरे से भी बाहर है। देह और मन के दोनों द्वारों को जो क्रमशः पार कर लेता है वह चैतन्य में प्रविष्ट हो जाता है और चैतन्य में प्रवेश का तात्पर्य है जीवन में प्रवेश।

चेतना अमृत है, शेष सब मृत है। चेतना कभी नहीं मरती। उस चेतना का अनुभव व्यक्ति को उसी तरह आलोकित कर देता है जैसे अंधेरे घर को दीपक की ज्योति। तब जीवन का अंधकार दूर हो जाता है। चैतन्य से जो तादात्म्य

होता है उससे जीवन ही बदल जाता है, तब त्याग अपने आप चला आता है। हृदय के सब विकार, सब दोष, सब पाप उसी तरह छूटने लगते हैं जैसे पीले पत्ते वृक्ष से झड जाते हैं। जीवन के अंधकार को विलीन करने का विधायक उपाय है : योग। योग का सरलतम, सीधा सा अर्थ है : जो मृत है, उससे तादात्म्य को छोडना और अपने भीतर जो जीवित है उससे तादात्म्य करना। मृत से दूर होना और चैतन्य के निकट होना, मृत से प्रथक होना और चैतन्य में प्रतिष्ठित होना : यही ज्ञान है, यही प्रार्थना है, यही धर्म है। उसकी शांति का, उसके संगीत का, अनन्त साधना का आभास वह पहली बार जान पाता है। उसे पहली वार मालूम होता है कि सारा जगत् कितने आनन्द से भरा है, वह पहली बार जान पाता है कि उसके अपने भीतर कितनी शांति है, कितना संगीत है और कितनी कृतार्थता है। तब एक प्रकार कृतज्ञता का भाव उसमें आ जाता है। तब तो श्वास लेना भी आनन्द है, तब इस संसार में कोई दुःख नहीं रहता। जिसने जान लिया कि मृत्यु नहीं है, उसने सब जान लिया, उसने अमृत को प्राप्त कर लिया।

अमृत को पा लेना जीवन को और जीवन के अर्थ को पा लेना है। जीवन का अर्थ जीवन से बाहर नहीं है। वह जीवन में ही छिपा है किन्तु जो जीवन को ही नहीं जानता वह उस अर्थ को कैसे पायेगा ? जैसे बीज में अंकुर छिपा होता है वैसे ही जीवन का चरम उद्देश्य भी जीवन से आवृत्त और ढका है। उस अर्थ को ही मैं परमात्मा कहता हूं। स्वयं की सत्ता में क्रमशः अंतर्गमन के द्वारा न केवल इस परमात्मा को जान लिया जाता है वरन् उसके साथ एकता भी सध जाती है। सत्य को जानना सत्य के साथ एक होना है। कहा गया है कि : "जो उसे जानता है वह वही हो जाता है।" ऋषि वचन है : "तत्वमसि श्वेतकेतु"। 'अर्थात्' श्वेतकेतु, तू वही है।"

२. श्रद्धा, अंध श्रद्धा और सत्य :

प्रायः लोग श्रद्धा और अन्ध विश्वास के अंतर को नहीं समझते। व्यक्ति की तथाकथित श्रद्धा अपने वातावरण का ही परिणाम होता है। इसीलिये मुसलमान घर में पैदा हुये बच्चे की श्रद्धा कुरान में होती है और हिन्दु की श्रद्धा गीता में होती है। अर्थात् बचपन से ही बच्चे के संस्कार जैसे बनाये जाते हैं वैसा वह बन जाता है। ग्रन्थ विशेष, शास्त्र विशेष या सिद्धांत विशेष के प्रति जो नाना श्रद्धायें हैं ये आपस में लडती हैं परन्तु यदि सत्य के प्रति श्रद्धा हो

तो पृथ्वी इस प्रकार से खंडित न हो जाये, सब लोग एक हो जायें। शास्त्रों के प्रति जो श्रद्धा है वह सम्प्रदायों को जन्म देती है और सत्य के प्रति श्रद्धा से धर्म की उत्पत्ति होती है। हम शास्त्र विभाजित लोग हैं। शास्त्रों को प्रचलित करने वाले सदा यही उपदेश देते हैं कि शास्त्रों में श्रद्धा रखनी चाहिये। क्योंकि ऐसी श्रद्धा पर ही तो सम्प्रदायों के संगठन और व्यवसाय खडे हैं। यदि यह श्रद्धा समाप्त हो जावे तो संप्रदाय टूट जायेंगे। परन्तु श्रद्धा का यह रुप गलत है, इसको तो अंध विश्वास कहना चाहिये। आत्मा और परमात्मा के प्रति आपके जो श्रद्धाभाव हैं वे वस्तुतः पिछले चार हजार वर्षों के प्रचार के ही परिणाम हैं। इसी प्रकार सन् १९१७ ईस्वी से रुस में यह सिखाया जा रहा है कि न कोई आत्मा है और न कोई परमात्मा। अतः वहां के लोगों की परमात्मा पर कोई श्रद्धा नहीं है, यह भी प्रचार का ही फल है। प्रचार सब गलत होते हैं। श्रद्धा के कारण मनुष्य जो कुछ भी मानता है वह अंधेरे में खडे होने के समान है। मैं न तो आगम में श्रद्धा करने को कहता हूं, न अश्रद्धा करने को क्योंकि अश्रद्धा भी वास्तव में विपरीत श्रद्धा है। ईश्वर में श्रद्धा करना और ईश्वर के न होने में श्रद्धा करना, ये दो भिन्न बातें नहीं हैं, ये दोनों ही श्रद्धायें हैं और इनका आधार ज्ञान नहीं है। श्रद्धा के कारण कुछ नहीं मानना चाहिये, केवल ज्ञान के कारण ही मानना जाहिये। ज्ञान की प्राप्ति के लिये तो अपने भीतर ही खोज करनी पडती है। जिस दिन अपने अंतः में सत्य की उपलब्धि होगी उसी दिन आगम में भी सत्य दिखाई देने लगेगा। जब तक अपने भीतर सत्य की प्राप्ति नहीं होती तब तक आगम में भी सत्य दिखाई नहीं देता।

महावीर के वचनों पर श्रद्धा करने मात्र से कोई लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि महावीर की वाणी महावीर के लिये ही सत्य है। आपके लिये तो उस दिन सत्य होगी, जब आपको ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो जायेगा। वह तभी संभव है यदि आप भी महावीर की भांति अपने भीतर प्रविष्ट हो जायें। सत्य को जानने के बाद ही महावीर की वाणी का सत्य प्रगट हो सकेगा। उस दिन जो श्रद्धा उत्पन्न होगी वह सम्यक् होगी। उसके पहले की श्रद्धा तो अंधविश्वास है। अपने को जानने के बाद जो श्रद्धा प्राप्त होती है वह ज्ञान का फल है, और अज्ञान में हम जिस श्रद्धा को पकडे रहते हैं वह केवल अंध विश्वास है। बेचारा मनुष्य समाज के भय से, मां बाप की शिक्षा के भय से श्रद्धा करने को विवश हो जाता है। उसकी श्रद्धा भय पर खडी है और जो भय पर खडा

हो वह ज्ञान नहीं हो सकता, ज्ञान का आधार तो अभय है। लोगों की कृष्ण के प्रति, महावीर के प्रति, या बुद्ध के प्रति इसलिये श्रद्धा है क्योंकि अपने प्रति उनकी कोई श्रद्धा नहीं। अपने प्रति अश्रद्धा को छुपाने के लिये ही दूसरे के प्रति श्रद्धा की जाती है। परन्तु सच तो यह है कि जिस व्यक्ति की अपने ऊपर श्रद्धा नहीं है उसकी महावीर या बुद्ध या कृष्ण के प्रति भी श्रद्धा नहीं हो सकती, वह स्वयं को तो धोखा दे ही रहा है, साथ ही भगवान को देना चाहता है।

अपने प्रति श्रद्धा द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान प्राप्ति के बाद ही बुद्ध, ईसा या कृष्ण जैसे सत्पुरुषों के प्रति हृदय में श्रद्धा पैदा होती है। क्योंकि उस क्षण अपनी अनुभूति से जो जाना जाता है उसके आधार पर उन लोगों ने जो जाना था वह स्पष्ट होने लगता है। तभी उनकी वाणी के ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। ज्ञान प्राप्ति के पहले तो मनुष्य की मनोदशा ऐसी विचित्र होती है, कि अगर वह बुद्ध पर श्रद्धा करता है तो ईसा पर नही करता, अगर वह ईसा पर करता है तो कृष्ण पर नहीं करता। किन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद की श्रद्धा इस प्रकार खंडित नहीं होती, वह अखंडित होती है। तब तो सत्य को जाननेवाले सभी महात्माओं के प्रति श्रद्धा हो जायेगी, क्योंकि तब उनकी वाणी में निहित ज्ञान रूपी प्रकाश को देखने की दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जायेगी। उस समय उनके शब्दों की बाह्य भिन्नता दूर हो जायेगी और उनका विचार साम्य समझ में आ जायेगा। कहीं कहीं बुद्ध और महावीर के वचन विरोधी मालुम होते हैं, किन्तु यदि उनकी गहनता को समझ लिया जाये तो उनमें विरोध नहीं, साम्य दिखाई देता है। महावीर ने कहा है कि आत्मा को जानना ज्ञान है और बुद्ध ने कहा कि आत्मा को मानना अज्ञान है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। परन्तु वास्तव में बात एक ही कही गई है, केवल दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। महावीर के कथन का अभिप्राय है कि जिसका अहंकार ('मैं' का भाव) विलीन हो जायेगा वह आत्मा को उपलब्ध कर सकेगा। दूसरी ओर बुद्ध 'अहंकार' के लिये 'आत्मा' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जिसका यह भाव विलीन हो जायेगा कि 'मैं आत्मा हूं' उसको सत्य के दर्शन होंगे। तो इनमें भेद क्या है? दोनों वचनों के अर्थसाम्य को जान लेने पर दोनों पर समान श्रद्धा होगी, परन्तु हम लोग तो शब्दों के पूजक हैं। शब्दों में भेद होना स्वाभाविक है। इस शब्द भेद के कारण ही विभिन्न धर्मों में विरोध पैदा होजाता है।

पर श्रद्धा ही अपने को तोडे हुये है। यदि स्वयं पर श्रद्धा हो तो वह सत्य से जोड देगी, सत्य की श्रद्धा अखंडित होती है। मैं आपको आगम से

मुक्त करना चाहता हूं, इसलिये नहीं कि आगम मुझे मूल्यवान नहीं मालूम होते, बल्कि इसलिये कि आगम से मुक्त होकर ही आप आगम के मूल्य को समझ सकेंगे। मैं आपको महावीर और बुद्ध के चरणों से भी इसलिये छुडाना चाहता हूं, ताकि आप उन चरणों के महत्व को अच्छी तरह से समझ सकें। यह तभी संभव है जब आप अपने भीतर प्रविष्ट हो सकेंगे। उस दिन आपको अपूर्व कृतज्ञता की अनुभूति होगी उन सब महान आत्माओं के प्रति, जिन्हें सत्य का बोध हुआ है। इससे पहले का भाव अनुग्रह नहीं अपितु लालच और लोभ है। तब जिस अनुकम्पा का बोध होगा वही आपकी श्रद्धा होगी। सत्यानुभूति से पहले जो उधार का ज्ञान होता है उसे दूसरों को देने में बडा सुख मिलता है, क्योंकि उससे अपने अहं की तृप्ति होती है। उधार के ज्ञान की देन ही परम्पराओं को चलाती है। परम्परायें कभी ज्ञानियों के हाथ से नहीं, अज्ञानियों के हाथ से चलती हैं, और इसी भ्रम में चलती हैं कि हम कुछ दे रहे हैं। जो अपने पास था ही नहीं उसके देने का घमंड कैसा ? इसीलिये संसार में ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा तो कम है किन्तु ज्ञान देने की इच्छा बहुत अधिक है।

सत्य को जानने के लिये तो सारे शास्त्रों से और सारी परंपराओं से चित्त को स्वतंत्र करना अनिवार्य है, तभी वह सत्य के अनन्त प्रकाश में मुक्त विचरण कर सकता है। चित्त की समस्त धारणाओं, विश्वासों और सिद्धांतों से मुक्ति ही सत्य के आगमन की भूमिका है। परतंत्र चित्त स्वकल्पित स्वप्न तो देख सकता है, लेकिन सत्य को पाने का वह अधिकारी नहीं है। सत्य उपलब्धि का अधिकार तो केवल उन्हें ही प्राप्त होता है जो स्वयं को सब भांति स्वतंत्र करने का अदम्य साहस करते हैं। जहां साहस ही नहीं है वहां स्वयं को या सत्य को पाना कैसे संभव होगा ? दूसरों पर निर्भरता साहस की कमी से ही निर्मित होती है, और आंखें सदा किसी और की ओर लगी हों तो वे स्वयं को देखने में समर्थ कैसे होंगी ? सभी दिशाओं से निर्ममतापूर्वक स्वयं को मुक्त कर लेना स्वयं में प्रवेश के लिये अत्यन्त अपरिहार्य है। वह चेतना जो सबसे मुक्त हो जाती है इसी मुक्ति के कारण स्वयं को पा लेती है, और स्वयं को पा लेना ही सत्य को पा लेना।

३. साधना के सोपान : मुमुक्षा, संकल्प, श्रम और प्रतीक्षा :

जीवन के कष्टों और दुखों से परेशान होकर जब मनुष्य संसार के प्रति उदासीन हो जाता है तो उसके हृदय में आत्मा और परमात्मा को जानने की जो इच्छा होती है वह एक तरंग के समान उठते ही विलीन हो जाती है, क्योंकि

वह उसका संकल्प नहीं है केवल मात्र जिज्ञासा है। मनुष्य की जिज्ञासा बच्चे के कौतूहल के समान है। आत्मा और परमात्मा के बारे में, विश्व के नाना रहस्यों के बारे में वह जो असंख्य प्रश्न पूछता है उनमें उसका बालसुलभ कौतूहल ही अभिव्यक्त होता है। जब तक उसमें मुमुक्षा उत्पन्न नहीं होती तब तक वह इसी प्रकार के सार्थक व निरर्थक प्रश्न पूछकर संतुष्ट हो जाता है। किन्तु जब उसमें मुमुक्षा जाग्रत होती है तब वह केवल जानना ही नहीं चाहता, वह कुछ होना चाहता है। मुमुक्षा तो उसकी मानसिक और आध्यात्मिक तृष्णा है जो कुछ पाकर ही तृप्त हो सकती है, अन्यथा वह उसे सदा अतृप्त ही रखेगी। जानना तो केवल इच्छा है किन्तु कुछ होने की, कुछ पाने की मुमुक्षा संकल्प है। साधनापथ पर चलने से पहले हमें यह अच्छी तरह से जान लेना चाहिये कि इस ओर हम जिज्ञासावश तो नहीं बढ रहे। यदि उस ओर प्रेरित करनेवाली जिज्ञासा ही है तब तो बजाय साधना के शास्त्रों की शरण लेनी चाहिये, और योग में प्रविष्ट होने की अपेक्षा पुस्तकालय में बैठकर अध्ययन करना चाहिये।

पश्चिम की फिलासोफी केवल जिज्ञासा है और पूर्व का दर्शन जिज्ञासा नहीं है। इसीलिये दोनों में आकाश पाताल का अंतर है। पश्चिमी फिलासोफी का अनुषांगिक है तर्क (Logic), और पूर्व के दर्शन का आनुषांगिक है : योग और साधना। पश्चिम का दार्शनिक योगी नहीं है क्योंकि वहां की फिलासोफी के साथ योग विकसित नहीं हुआ। पूर्व का प्रत्येक दार्शनिक योगी है। महावीर ने, बुद्ध ने, कृष्ण ने और पातंजलि ने जो चर्चा की है वह फिलासोफी नहीं है, यह तो साधना है। वह केवल जिज्ञासा नहीं है। वह तो अपने आपको परिवर्तित करने की चेष्टा है। जैसे हम हैं, इससे असन्तुष्ट होकर योग द्वारा हम कुछ और होना चाहते हैं। यह तभी संभव होता है जब सम्पूर्ण अंतरात्मा अपने को सार्थक बनाने का संकल्प कर लेती है। अतः मुमुक्षा प्राथमिक होती है और जिज्ञासा आनुषांगिक। जिज्ञासा का अपने में कोई मूल्य नहीं है, वह तो एक बौद्धिक व्यायाम है जिसका परिणाम कुछ भी नहीं है। किन्तु मुमुक्षा के जागृत हो जाने से जीवन की व्यर्थता समझ में आ जाती है, और तब अपने आप ही परिवर्तन आरम्भ हो जाता है।

एक बार सुबह के समय एक फकीर जब नहाने जा रहा था तो रास्ते में एक आदमी ने उससे पूछा कि : ईश्वर क्या है ? फकीर ने जब पूछा कि तुम इसके बारे में जानना चाहते हो, या सुनना चाहते हो ? तो उसने कहा कि जानना

चाहता हूं। फकीर ने कहा कि तब चलो मेरे साथ स्नान कर लो। जब वे नदी में नहाने लगे तो फकीर ने उसके सिर को पकड कर पानी के भीतर डुबा दिया। वह पानी से बाहर निकलने की जितनी कोशिश करता उतनी ही शक्ति से फकीर उसे और भीतर दबा देता। जब उस आदमी के प्राण छटपटाने लगे और श्वास टूटने लगा तो उस फकीर ने उसे छोड दिया। जब वह कांपते हुये बाहर निकला तो फकीर ने उससे पूछा कि जब मैंने तुम्हारे सिर को पानी में दबाया हुआ था तो उस समय तुम्हें कैसा लगा? उसने उत्तर दिया कि पहले तो बाहर निकलने के लिये छटपटा रहा था, फिर बाहर निकलना भी भूल गया और एकमात्र प्यास रह गई सांस लेने की। इस पर फकीर ने उससे दोबारा पूछा कि क्या ईश्वर को पाने की तुम्हारी आकांक्षा भी इस स्थिति में पहुंची है? क्या उसके लिये तुम्हारे अंतर में यह तडप पैदा हुई है कि यदि वह न मिला तो मैं समाप्त हो जाऊंगा? ऐसी सच्ची प्यास से ही उसके पाने का संकल्प उत्पन्न होता है। इससे पहले तो केवल सामान्य इच्छा का ही रूप होता है।

मृत्यु के मुख से निकलने के लिये मनुष्य जिस दृढता से काम लेता है वही दृढता जीवन साधना में प्रवेश करने के लिये चाहिये। एक बीज जब फूटता है तो कितने संकल्प से फूटता है। वह जमीन की पर्त को तोडता है और बीज की खोल को तोडकर बाहर निकलता है। इससे भी अधिक संकल्प की आवश्यकता होती है, जब व्यक्ति व्यर्थता की जमीन के खोल को फोडकर शाश्वत जीवन में प्रवेश करता है। किन्तु यह प्रवेश तभी संभव हो सकता है जब सारी शक्ति एकत्रित करके संकल्प किया जाये। अगर मात्र इच्छा न हो वरन् संकल्प हो, अगर मात्र जिज्ञासा न हो बल्कि मुमुक्षा हो तभी साधना फलवती होगी।

साधना की पहली सीढी है : संकल्प। अपनी अन्तरात्मा में यह प्रतिज्ञा कर लेना बहुत आवश्यक है कि मैं संकल्पबद्ध हूं, तभी उस ओर हमारी कुछ गति हो सकेगी। बुद्ध ने सात वर्ष तक कठिन तपस्या की थी, इससे वे बहुत कमजोर हो गये थे। एक दिन संध्या के समय नदी में स्नान करके जब बाहर निकल रहे थे तो उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे घाट को पकडकर चढ जाते। वे एक पेड की लटकी हुई जड को पकड कर रुक गये, और पहली बार उन्होंने सोचा कि जब मैं इतना कमजोर हो गया हूं कि नदी के घाट पर नहीं चढ सकता, तो जीवन के घाट पर चढना कैसे संभव हो सकेगा? वे उस पेड को पकडकर वहीं बैठ गये, और संकल्प किया कि अब तो तब तक नहीं उठूंगा जब तक सत्य को नहीं पा लूंगा, अन्यथा समाप्त हो जाऊंगा। जैसे ही उनका यह संकल्प प्रगाढ

हुआ उनके विचार जो कभी विलीन नहीं होते थे, वे विसर्जित होने लगे, और जब भोर का तारा डूबने को था उस समय उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ।

स्वामी रामतीर्थ से भी जब एक बार गणित का एक प्रश्न हल नहीं हो रहा था, तो उन्होंने भी छुरा निकालकर सामने रख लिया और संकल्प किया कि यदि पांच मिनिट में यह प्रश्न हल न हुआ तो मैं अपने आपको समाप्त कर दूंगा। संकल्प करते ही वे दुनिया को भूलकर उस प्रश्न को हल करने में इस प्रकार लग गये, मानो वह उनके जीवन का अंतिम प्रश्न था। तब तीन ही मिनिट में वह हल हो गया, और उन्होंने कहा कि जिसे मैं इच्छा से सारी रात हल न कर सका वह तीन मिनिट में संकल्प से हो गया।

साधक भी इच्छा से नहीं चलता। इच्छा में गति नहीं है। यदि कोई काम नहीं हो रहा तो इसका अर्थ है कि संकल्प का अभाव है।

साधना की दूसरी सीढी है : सातत्य, अर्थात् साधक जो भी आरंभ करे उसको अविच्छिन्न रुप से करता जाये, उसका क्रम न तोडे, निरंतर करता रहे। पृथ्वी में यदि कुछ बोया जाये तो उसकी सुरक्षा सतत होनी चाहिये। साधना कोई खंडित चीज नहीं है कि चौबीस घंटों में पंद्रह मिनिट के लिये करके फिर उस ओर ध्यान ही न दिया जाये। साधना की अंतरधारा तो अविच्छिन्न रूप से बहनी चाहिये, कभी रुकनी नहीं चाहिये। एक ही स्थान पर सतत खोदते रहने से ही जलस्रोत उपलब्ध हो जाता है। ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसे अपनी आंतरिक खोज से आत्मा उपलब्ध न हो। हां, प्राप्ति में देर हो सकती है क्योंकि हर आदमी में कर्मों की और विचारों की ऐसी चट्टानें है जिनसे जीवन की अलग अलग पतें बनती हैं, खोदने से ये चट्टानें हट जायेंगी किन्तु प्रयत्न में सातत्य चाहिये, निरंतरता चाहिये।

आरम्भ में थोडा ही करना चाहिये किन्तु सतत करना चाहिये। तब उसका परिणाम अवश्य होगा। यदि बहुत शुरु कर लें और सतत न करें तो उसका कोई फल नहीं मिलेगा। सातत्य का अर्थ है बहुत धीमी चोट हो किन्तु सतत हो तो उसका परिणाम होगा। जब कोमल पानी पहाड से नीचे एक कठोर चट्टान पर गिरता है तो उसके निरन्तर आघात से चट्टान टूटने लगती है और एक दिन रेत बनकर बह जाती है। यदि व्यक्ति का प्रयास छोटा है लेकिन सतत है तो बड़ी से बडी चट्टान रूपी बाधा भी बह जायेगी।

संकल्प और सातत्य के बाद तीसरी सीढी है : प्रतीक्षा। यदि व्यक्ति में प्रतीक्षा करने का धैर्य नहीं है तो संकल्प और सातत्य भी व्यर्थ हो जायेंगे।

जितना विराट् उपलब्ध करना हो उतनी ही अनन्त प्रतीक्षा करनी पडती है। जल्दी में तो छोटी चीज ही मिल सकती है। प्रायः हम छोटी वस्तुओं के लिये प्रतीक्षा कर लेते हैं किन्तु विराट के पाने में उतावली करते हैं। उस परम सत्व की प्राप्ति सरल तो है किन्तु सस्ती नहीं है, थोडा मूल्य चुकाना ही पडता है। जो अनंत प्रतीक्षा करने को राजी है उसे तो उसी क्षण उपलब्धि हो सकती है। अनन्त प्रतीक्षा का वह भाव चित्त की विश्रांत स्थिति के बाद ही संभव हो सकता है।

एक नब्बे वर्ष का साधु बचपन से ही साधना में निरत था। एक दिन नारद वहां से जा रहे थे तो उसने नारद से कहा कि तुम भगवान के पास जा रहे हो तो भगवान से पूछना कि मुझे मोक्ष कब मिलेगा, मेरा तो सारा जीवन ही तपस्या में बीत गया। वहीं निकट ही बरगद के पेड के नीचे एक फकीर तम्बुरे को बजाते हुये नाच रहा था। वह उसी दिन दीक्षित हुआ था। नारद ने उससे कहा : 'मित्र, तुम्हें भी पूछना है कुछ भगवान से ?' वह नाचने में इतना तल्लीन था कि उसने नारद की बात को सुना ही नहीं। कुछ दिन बाद नारद ने बैकुंठ से वापिस आकर उस वृद्ध साधु से कहा कि भगवान ने कहा है कि तुम्हें मोक्ष प्राप्त करने में अभी तीन जन्म और लगेंगे। यह सुनते ही साधु ने हाथ से माला पटक दी और कह उठा : 'यह तो घोर अन्याय है। अभी तीन जन्म और' ? नारद जब कुछ आगे आये तो उस फकीर को देखकर कहा कि 'इस बरगद में जितने पत्ते हैं उतने जन्म तुम्हें लेने पडेंगे, तब तुम्हें मोक्ष प्राप्त होगा।' यह सुनकर फकीर और भी मग्न होकर नाचने लगा और अत्यन्त प्रसन्न होकर उसने कहा : "तब तो पा लिया। इस पृथ्वी पर असंख्य पत्ते हैं किन्तु उनमें से केवल इस बरगद के पत्ते। कितने होंगे। बस तब तो पा लिया। उस फकीर को मोक्ष तत्क्षण प्राप्त हो गया।"

सतत विश्रांत और प्रतीक्षारत होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अनंत प्रतीक्षा ही प्रार्थना है और प्यास संकल्प है। सतत उस प्यास को जगाये रखना सातत्य है। उस प्यास से अधीर नहीं होना चाहिये। जो असीम धैर्य से अनन्त प्रतीक्षा करने के लिये तैयार हो जाता है उसकी यात्रा उसी क्षण भी पूरी हो सकती है। वास्तव में प्रतीक्षा में ही प्रेम है। जो प्रतीक्षा नहीं करना चाहता वह भगवान को झपटकर प्राप्त करना चाहता है। झपटने के भाव में तो हिन्सा छिपी हुई है। भगवान पर अधिकार जमाने के लिये ही लोग ऐसा करते हैं। किन्तु प्रतीक्षा म उस पर अपना अधिकार जमाने की प्रवृत्ति नहीं होती, वह तो केवल भगवान

की प्रतीक्षा है जिसमें हृदय प्रेम से परिपूर्ण रहता है। इसीलिये उस प्रतीक्षा में तनाव नहीं होता। तनाव (Tension) तो होता है जब पाने की उतावली हो। यदि विश्वस्त भाव से प्रतीक्षा की जायेगी तो उसमें पाने का तनाव नहीं होगा। प्रयत्न का सातत्य तो होगा किन्तु पुरुस्कार पाने का अधैर्य नहीं होगा। इसे प्रयासशून्य प्रयास कहा जा सकता है। इसी को सहज समाधि कहते हैं। यह ठीक है कि करने से ही समाधि हो सकती है किन्तु करने के पीछे अगर अनंत प्रतीक्षा होगी तो समाधि सहज हो जायेगी।

मैं जिस साधना की बात कर रहा हूं वह कोई प्रयत्न नहीं है। वह तो एक शांति में, एक प्रयास शून्य प्रयास में अनन्त प्रतीक्षा की बात है, उसके बाद ही सत्य की उपलब्धि हो सकती है।

ये तीन तत्व साधना पथ पर चलने के लिये सहारे हैं।

जीवन में जो भी बहुमूल्य है वह बिना प्रयास के नहीं मिलता और न ही मात्र प्रयास से ही मिलता है। प्रयास और अप्रयास, अभ्यास और अनभ्यास दोनों के सम्यक् संतुलन में ही उसकी उपलब्धि है। शायद यही कठिनाई भी है क्योंकि कर्म को अकर्म की भांति करने से अधिक दुरुह और कुछ भी नहीं है, कर्म भी सरल है, अकर्म भी सरल है किन्तु कर्म में अकर्म को साधना योग है। किन्तु जो इस कठिनतम को साध लेता है, उसका जीवन सरलतम हो जाता है।

(क्रमशः)

समाचार-विभाग

पूना में सत्संग :

आचार्य श्री का जीवन दर्शन हर मानवीय हृदय में वास्तविक जीवन क्रांति का सूत्रपात कर रहा है। एक बार भी जो आपके अंतस्तल की अनुभूतिमय वाणी को सुन लेता है, उसका दिल हमेशा ही आपकी वाणी को सुनने के लिये आप्लावित रहता है। बौद्धिक जिज्ञासु वर्ग, कलाकार, सामाजिक कार्यकर्तागण, प्रेमी साधक गण आदि सभी वर्गों के व्यक्तियों के बीच आचार्य श्री की वाणी को सुनने की अभीप्सा उदित हुई है। और न ही केवल सुनकर मौन रह जाने तक बात सीमित है, वरन् जीवन में प्रयोग कर जीवन रहस्यों को जानने की तीव्र जिज्ञासा भी, जहां जहां आचार्य श्री गये हैं, वहां वहां दृष्टिगत हुई है। पिछले जून माह की १०, ११ और १२ तारीखों में पूना में सत्संग आयोजित था। इसमें आचार्य श्री की जीवन दृष्टि को जानने-समझने के लिये पूना के सभी वर्गों के विचारशील व्यक्ति बडी संख्या में सुबह और शाम एम. ई. एस. कालेज में उपस्थित होते थे। इस कार्यक्रम में देश के प्रसिद्ध चिन्तक श्री दादा धर्माधिकारी, श्री अच्युत पट्वर्धन, श्री राव साहब पट्वर्धन एवं श्री गंगाशरण सिंहजी भी उपस्थित थे। सुबह आचार्यश्री प्रवचन देते और रात्रि प्रश्नों का उत्तर। इन प्रवचनों से पूना में एक आध्यात्मिक क्रांति की लहर फैल गई। अपने इन प्रवचनों में आचार्यश्री ने मूल रुप से कहा कि: "मनुष्य अपनी जडों से टूटकर दुख और संताप के गर्त में खो गया है। उसने अपने दुखों को स्वयं आरोपित किया है, और दिशा-शून्य भूमि पर उसके पैर पड रहे हैं। अब समय आ गया है जब कि मनुष्य को प्रकृति पर और स्वयं के केन्द्र पर आना होगा। प्रकृति से और स्वयं से

संबंधित होकर ही मनुष्य अपनी जडों को पुनः वापिस उपलब्ध हो सकेगा" आपने विशेष रूप से कहा कि "मनुष्य दुख से मुक्त होना चाहता है, लेकिन दुख के कारणों को नहीं देखना चाहता, कि दुख क्यों है? यदि व्यक्ति अपने दुख के कारणों को जाने तो वह दुख से मुक्त हो सकता है। और दुख के बहुत कारण नहीं हैं। दुख का कारण तो एक ही है, वह है. स्व मूर्च्छा। यदि स्व के प्रति होश आ जाये तो समस्त दुख विसर्जित हो जाते हैं।"

आचार्यश्री का एक एक शब्द प्राणों में विद्युत दौडा देता है, और सत्य को पाने की सोई हुई अभीप्सा अदम्य वेग से जाग उठती है।

ग्वालियर में प्रवचन :

महारानी विजयाराजे सिंधिया के आमंत्रण पर आचार्यश्री दो प्रवचन देने २०, २१ जून को ग्वालियर पधारे। उन्हें सुनने के लिये विशाल जनसमूह उपस्थित हुआ। कोई २० हजार व्यक्ति सभा में थे। आचार्यश्री ने वहां कहा : "धर्म के जन्म के लिये धर्मों से मुक्ति आवश्यक है। जो व्यक्ति धर्मों से जकडा हुआ है, वह धर्म को उपलब्ध नहीं कर सकता। सत्य की प्राप्ति के लिये चित्त की पूर्ण स्वतंत्रता के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।"

गंज बासौदा में प्रवचन :

अहिन्सा सम्मेलन में मुख्य अतिथि के रुप में बोलने आचार्यश्री १९ जून को गंज बासौदा पहुंचे। वहां सैकडों व्यक्ति वर्षों से उनकी अमृतवाणी को सुनने को लालायित थे। आचार्यश्री ने कहा "अहिन्सा आचरण मात्र नहीं है। अहिन्सा आत्मा है। व्यक्ति जब स्वयं के सत्य को अनुभव करता है, तो अनायास ही उसकी अंतरात्मा से समस्त के प्रति प्रेम प्रवाहित होने लगता है। यह प्रेम सहज और स्वस्फूर्त होता है. उसे सीखना और साधना नहीं पडता, क्योंकि सीखा और साधा हुआ प्रेम तो सत्य नहीं हो सकता है"।

करेली में प्रवचन :

मित्र मिलन संस्था करेली की ओर से १८ जून को आचार्यश्री का करेली में कार्यक्रम आयोजित किया गया था। कार्यक्रम के अंतर्गत मध्यान्ह में एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया, और रात्रि में सार्वजनिक प्रवचन का आयोजन हुआ। इसमें करेली के सभी वर्गों के नागरिक बडी संख्या में उपस्थित थे। संगोष्ठी के मध्य आचार्य श्री ने कहा : "व्यक्ति को जीवन में ज्ञात के छूटने का भय लगता

है। जिन जिन तत्वों को उसने जीवन में अपनी सुरक्षा के लिये इकट्ठा किया है, वे सभी मृत्यु में छूट जाते हैं, और मृत्यु का भय सामने खडा हो जाता है। इससे जिनने इस जीवन में ही जीवन से वास्तविक परिचय पाया है उनके लिये मृत्यु एक उत्सव हो जाती है। मेरी दृष्टि में जीवन और मृत्यु अलग बातें नहीं हैं। श्वांस भीतर लेने की क्रिया जीवन की क्रिया है और श्वांस छोडना मृत्यु की क्रिया है। जागना जीवन की क्रिया है, सोना मृत्यु की। इन दोनों के पीछे जो है, वह जीवन और मृत्यु के बीच नहीं है। जो इन तथ्यों को शास्त्रों में न खोज स्वयं के वास्तविक जीवन में खोजते हैं, उनके लिये मृत्यु का भय नहीं होता।"

सार्वजनिक प्रवचन में युवकों को संबोधित करते हुये आपने कहा कि: "युवकों के हाथ में उनका भविष्य है। उनके हाथ में उनका जीवन है, और जीवन के थोडे समय में उसका निर्माण करना है। बहुत श्रम और प्रतीक्षा से ही यह संभव होता है। एक मूर्तिकार पत्थर पर श्रम करके मूर्ति बनाता है, उसी तरह मनुष्य का जीवन भी अनगढ पत्थर की भांति है, और उसे उसको बनाना है"।

आपने आगे कहा कि: "जीवन का उपयोग वास्तविक उपलब्धियों की दिशा में करना चाहिये। जिस उपलब्धि से जीवन में कृतार्थता और धन्यता न आये, वह वास्तविक उपलब्धि नहीं है। युवा चित्त में–पूर्ण युवा चित्त में-ही यह संभव होता है। शरीर से युवा होने का कोई अर्थ नहीं है, जब तक मन युवा न हो। मन गुलामी से बंधा होता है। आप अपने को मनुष्य थोडे ही समझते हैं: हिन्दू समझते हैं, मुसलमान समझते हैं। यह आपकी मानसिक गुलामी है। पिछले महायुद्ध में हमने १० करोड मनुष्यों की हत्या की, और अब शायद हम पूरी मनुष्यता की हत्या कर दें। एक तरफ हम बच्चों के लिये नये विद्यालय बना रहे हैं और दूसरी तरफ हम बम बना रहे हैं। ये सारा का सारा जो विरोधी भावों का हमारा मन है, उसमें जरूर कोई चिन्तन का अभाव है। अन्यथा ये बात हमें दिखाई पड सकती थी। जब तक हमें ये दिखाई न पडे मनुष्य का मन गुलाम है, तब तक हमारा शांति से रहना असंभव है। और जो गुलाम है, वह सत्य तक कैसे पहुंचेगा। इससे मन का समस्त प्रभावों से मुक्त होना, स्वतंत्रता और सत्य की दिशा में आवश्यक है"

आचार्य श्री का दिशा दर्शन व्यक्ति को मानसिक दासता से मुक्त करने की ओर बहुत बडा कदम है, और जब तक चित्त कहीं भी किसी भी पक्षपात से

या धारणा से अवरुद्ध है, तब तक जीवन में कोई श्रेष्ठ सृजन संभव नहीं है। इस तथ्य को सभी ओर अनुभव किया जा रहा है जिसके सुदूरगामी परिणाम अनुभव किये जा सकेंगे।

बोधगया बिहार में साधना शिबिर :

बिहार प्रांत के प्रमुख विचारशील चिन्तकों, साहित्यकारों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और सर्वोदय के निष्ठावान व्यक्तियों के आग्रह पर बोधगया में श्री बिनोवाजी द्वारा स्थापित समन्वय आश्रम में २७ से २९ जून तक आचार्य श्री का एक त्रिदिवसीय साधना शिबिर का आयोजन हुआ। इस शिबिर में समन्वय आश्रम के सभी अंतेवासी भी शामिल थे। शिबिर के मध्य सुबह सांध्य प्रवचन के अतिरिक्त सुबह और रात्रि ध्यान के प्रयोग आचार्य श्री कराते थे, और मध्यान्ह व्यक्तिगत चर्चा तथा प्रश्नों का उत्तर देते थे। अपने इस साधना शिबिर के मध्य आचार्यश्री ने जीवन के अंतर्तम रहस्यों पर विचार रखते हुये कहा : "तथाकथित ज्ञान अहंकार लाता है। शास्त्र, सिद्धांत और अतीत के पूर्वाग्रह मन को जटिल और कठोर बनाते हैं। साधना के पूर्व साधक को जानना चाहिये कि खोज और अनुसंधान तो निर्दोष और स्वतंत्र चित्त में ही संभव होती है। इससे तथाकथित ज्ञान के भ्रम को समझ, जब व्यक्ति निष्पक्ष मन से साधना के जीवन में प्रवेश करता है तभी उसे जीवन के सत्य प्रगट होते हैं।"

ध्यान पर बोलते हुये आपने कहा : "ध्यान अक्रिया है। जब मन में कोई विचार नहीं होता और होश होता है, उस स्थिति में ध्यान होता है। ध्यान का और चित्त की एकाग्रता का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। एकाग्रता तो मन की तन्द्रा की अवस्था है। इससे ध्यान तो केवल मन की शून्यता और होश से संबंधित है। किसी भी तरह की मादकता का ध्यान से कोई वास्ता नहीं है।"

साधना शिविर में व्यक्तिगत चर्चाओं तथा प्रश्नोत्तर के मध्य आचार्यश्री ने कहा : "आचरण शुद्धि की दिशा गलत है। उससे आचरण तो परिवर्तित नहीं, व्यक्ति का जीवन एक गहरे अंतर्द्वन्द्व में पड जाता है। आचरण शुद्धि का साधन मन के विपरीत चलता है, और एक सतत संघर्ष अपने साथ खडा कर लेता है। मेरा देखना है कि जब तक अंतरात्मा परिवर्तित नहीं होती, तब तक आचरण परिवर्तित नहीं हो सकता। प्राथमिक तो आंतरिक चेतना में क्रांति का होना है, उसके परिणाम में सहज ही शुद्ध आचरण फलित होता है।"

सिन्धी तरुण समाज जबलपुर में प्रवचन :

जबलपुर नगर के तरुण उत्साही सिन्धी भाईयों की ओर से १२ जुलाई को आचार्यश्री का एक सार्वजनिक प्रवचन आयोजित किया गया। इसमें सिन्धी भाईयों की ओर से आचार्यश्री का स्वागत करते हुये कहा गया कि : "आज के जमाने में जबकि आदमी टूट रहा है, उसे जोडने का काम आचार्य रजनीशजी कर रहे हैं। किस तरह से अपने भीतर से जुडकर आदमी एक हो, इस दिशा में जो कार्य आचार्यजी कर रहे हैं, वह महान है। आपने जिस आलोक, शांति और आनन्द को पाया है, उसे व्यक्त करने के लिये हम भाइयों के पास कोई शब्द ही नहीं हैं। हमने उनका जो साहित्य पढा है और समय समय पर जो आपसे मुलाकातें ली हैं, उससे हम कह सकते हैं कि आचार्यजी हमारे बीच में बहुत बडी महान् हस्ती हैं, और आपका सन्देश सभी पंथ, सीमाओं तथा दायरों को तोडकर असीम है। जिस तरह से सागर की अतल गहराई होती है, वैसे ही आचार्यजी के जीवन की गहराई है, और जो हमें आचार्यजी के जीवन का वास्तविक परिचय देती है।"

अपने प्रवचन के मध्य आचार्य श्री ने कहा कि : "धर्म का विशेषण से कोई अर्थ नहीं है। न तो वह हिन्दू है, न बौद्ध है, न ईसाई है और न जैन और न मुसलमान। धर्म तो मात्र धर्म है। इससे मैं कोई धर्म विशेष के सम्बन्ध में नहीं, वरन् केवल धर्म पर आपसे कुछ कहूंगा। जब भी धर्म को किसी पंथ से, संप्रदाय से या किसी भी घेरे से बांध दिया जाता है तो धर्म के प्राण निकल जाते हैं, और लोग उसकी लाश को ही ढोते रहते हैं और तब फिर मजहब के बीच दरारें पडती हैं, और रक्तपात होता है। पिछले ३ हजार वर्षों में धर्मों का इतिहास खूनी रक्तपात का रहा है। यह धर्म को विशेषण के साथ खडा करने से हुआ है। मैं देखता हूं कि आज इतने मंदिर हैं, चर्च हैं, गुरुद्वारे हैं लेकिन कहीं भी धर्म नहीं है। वहां तो केवल धर्म के नाम पर अपनी अपनी मान्यताओं के घेरे हैं।"

धर्म पर बोलते हुये आपने कहा : "धर्म जीवन की वास्तविक क्रांति का विज्ञान है। व्यक्ति अपने भीतर के चेतना लोक से परिचय पाने के लिये धर्म की ओर कदम रखता है। जैसे जैसे अपने चित्त के प्रति होश को रखते हुये, व्यक्ति जीवन की गहराई में प्रवेश करता है, वह अपने स्वरुप से परिचित होता है। इस जीवन में प्रतिष्ठित होकर वह शांति और आनन्द को अनुभव करता है, और जीवन की समग्रता से अखंडित रुप से एक हो जाता है।"

चांदा में त्रिदिवसीय सत्संग :

चांदा महाराष्ट्र में आचार्य श्री का त्रिदिवसीय सत्संग का कार्यक्रम श्री रेखचंदजी पारख ने ३० जुलाई से १ अगस्त तक आयोजित किया। संगोष्ठी के सत्संग के कार्यक्रमों के मध्य आचार्य श्री ने प्रेम के विकास पर चर्चायें दीं। आपने कहा कि : "प्रेम में व्यक्ति की जितनी गहराई होती है, मनुष्यता में उतनी ही ऊंचाई उसकी हो जाती है। और, परिग्रह में जितनी ऊंचाई हो, मनुष्यता में उतनी ही नीचाई होती है। प्रेम और परिग्रह जीवन की दो दिशायें हैं। प्रेम पूर्ण हो तो परिग्रह शून्य हो जाता है और जिनके चित्त परिग्रह से घिरे रहते हैं, प्रेम वहां आवास नहीं करता है। जो मनुष्य सारे जीवन केवल धन की तलाश करता है, वह अंततः अपने को दीन-हीन पाता है। जीवन की आंतरिक समृद्धि नहीं मिलती है। प्रेम ही वास्तविक संपदा है और जो मनुष्य प्रम की दिशा में अग्रसर होता है वह अपने को प्रभुता म प्रतिष्ठित पाता है।"

गोन्दिया में संगोष्ठी

आचार्यश्री १ अगस्त की संध्या गोंदिया पधारे। रात्रि आयोजित गोष्ठी में उन्होंने कहा : "सत्य उपलब्धि के मार्ग में अहंकार के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। 'मैं हूं' यही भ्रम है। और अनेक रूपों में मनुष्य इस भ्रम को परिपुष्ट करता है। धन से, त्याग से, धर्म से, ज्ञान से—सभी भांति वह "मैं भाव" का पोषण करता है। इस मैं के बिन्दु पर ही संसार घूमता है, और इस मैं के लिये ही मोक्ष की खोज होती है। जबकि वस्तुतः मैं की कोई सत्ता ही नहीं है। सत्ता है सर्व की। व्यक्ति नहीं, ब्रह्म ही सत्य है। इसलिये, "मैं ब्रह्म हूं" ऐसा न सोचें, अपितु जानें कि 'मैं नहीं हूं, ब्रह्म ही है।' यह मात्र मनन से नहीं होगा। यह तो होगा स्वयं में 'मैं' के निर्मम अनुसंधान और विश्लेषण से। खोजें कि यह 'मैं' कहां है ? श्री रमण कहते थे : पूछें: "मैं कौन हूं ?" मैं कहता हूं : पूछें : "मैं कहां हूं ?" यह जो स्वयं का व्यक्तित्व है, इसके आत्यंतिक विश्लेषण से 'मैं' कहीं पाया ही नहीं जाता है। इस अनुपलब्धि में ही एक क्रांति घटित होती है, और व्यक्ति स्वयं के भ्रम से मुक्त हो, सर्व में मुक्त हो जाता है।"

—०—

आचार्यश्री रजनीश द्वारा विश्वविद्यालय की सेवा से त्यागपत्र :

आचार्यश्री के क्रांतिदृष्टा व्यक्तित्व के प्रभाव में देश के कौने कौने में विचार जागरण की एक सशक्त लहर पैदा हो गई है। उनकी मौलिक शिक्षाओं ने सभी वर्गों के व्यक्तियों को प्रभावित किया है। वस्तुतः उनके आसपास एक आन्दोलन ही आविर्भूत हो रहा है। इसलिये देश भर में उन्हें प्रेम करने-वालों का आग्रह था, कि वे जबलपुर विश्व-विद्यालय के महाकौशल विद्यापीठ के आचार्यपद से मुक्त हो जावें, ताकि उनके सान्निध्य और सत्संग का लाभ बृहत्तर जनसमाज को उपलब्ध हो सके। आचार्यश्री कहते थे कि जब प्रभु की इच्छा होगी तो वैसा भी हो जावेगा। १ अगस्त को अनायास उन्हें लगा कि वह समय आ गया है और उन्हें विश्वविद्यालय की सेवायें मनुष्यता की वृहत्तर सेवाओं के निमित्त छोड देनी हैं। वे तब यात्रा में थे। लौटते ही उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। यह समाचार हजारों व्यक्तियों के हृदय आनन्द से भर देगा। क्योंकि इस भांति आचार्यश्री जिस धर्म-चक्र-प्रवर्तन में संलग्न हैं, उसके लिये अब उनकी पूरी शक्ति समाज को उपलब्ध हो सकेगी। उनके अमृत उद्‌गार सोयी हुई आत्माओं में धर्म की ज्योति को जला सकें, यही हमारी कामना है।

--संपादक

जीवन जागृति केन्द्र बम्बई द्वारा प्रकाशित आचार्य रजनीश-साहित्य

हिन्दी साहित्य

१–साधनापथ	मू.	रुपया	२–००
२–क्रांतिबीज	–	”	२–००
३–सिंहनाद	–	”	१–२५
४–अमृतकण	–	”	०–४०

गुजराती साहित्य

१–साधनापथ	–	”	२–००
२–क्रांतिबीज	–	”	२–००
३–सिंहनाद	–	”	१–००
४–अहिंसादर्शन	–	”	००–३५
५–अमृतकण	–	”	००–४०

मराठी साहित्य

१–साधनापथ	–	”	३–००
२–सिंहनाद	–	”	२–००
३–अमृतकण		”	०–५०

अंग्रेजी साहित्य

१–पाथ आफ सेल्फ रियेलायजेशन	–	”	२–२५

नोट : अहिंसा दर्शन हिन्दी में छप रही है । उसका मूल्य ००–४० पैसा रखा गया है । उपरोक्त ग्रंथों का पक्का पुठा “स्पेशल कापी” के लिए सिर्फ ५० पैसा ज्यादा देना होगा । तथा पुस्तकें मगानेवाले महानुभावों को ही पोस्टेज वहन करना होगा ।

"मेरे प्रिय,

"क्या मैं पूछूं कि तुम जीवित हो ? क्योंकि जी लेने और जीवन में बहुत भेद है। शरीर में हो जो जीता है, वह जीता ही नहीं। शरीर का जीवन तो क्रमिक मृत्यु का ही दूसरा नाम है। हम जिसे जन्म कहते हैं, क्या वह मृत्यु का ही प्रारंभ नहीं है ? और क्या अंततः वही विकसित हो मृत्यु नहीं बन जाता है ? जन्म जीवन हो, तो उसका अंत मृत्यु कैसे होगी ? वस्तुतः अंत में जो प्रगट होता है, वह आरंभ में ही छिपा रहता है। अंत, प्रगट हो गया, आरंभ ही तो है। इसलिये मैं कहता हूं कि जन्म को ही जीवन न मान लेना। जीवन का न तो कोई जन्म है, और न मृत्यु है। जीवन तो अमृत सत्ता है। वह सत्ता प्रत्येक के भीतर है। वही हमारा होना है। लेकिन हम उसे नहीं जान पाते, क्योंकि हमारी आंखें सदा बाहर हैं। हम उसे नहीं पहचान पाते, क्योंकि हम उसकी ओर देखते ही नहीं। इस भांति जो निकट से भी निकट है, वही दूर से भी दूर हो जाता है। किन्तु, आंखों को जो बाहर से खाली कर लेता है और चित्त को बाहर से शून्य, वह उसे जान लेने में निश्चय ही समर्थ हो जाता है जो कि भीतर है। शून्य होना ही पूर्ण होना है। वही और वही जीवन है। उसके पूर्व वस्तुतः कोई भी जीवित नहीं है। शून्य को जानकर जीना परमात्मा में जीना है। और ऐसी चेतनाओं के लिये ही आनंद है, आलोक है, अमृत है—और ऐसी चेतनाओं के लिये ही धन्यता है, कृतार्थता है। आओ ! मैं तुम्हें भी स्वर्ग के उस राज्य के लिये आमंत्रित करता हूं।

—आचार्य श्री रजनीश